इलाहाबाद विश्वविद्यालय को डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

"पंद्रहवीं शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा"

निर्देशिका

डा० राजलक्ष्मी वर्मा

प्रवक्ता

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्त्री

श्रीमती शैलजा पाण्डेय

इलाहाबाद

१९९१

प्राक्कथन

संस्कृत विषय की छात्रा होने के कारण जब मुझे दर्शन पढ़ने का अवसर मिला तब मुझे ज्ञात हुआ कि दर्शन की शिक्षा ग्रहण किये बिना किसी भी व्यक्ति की शिक्षा ही अधूरी है । अतएव आगे चलकर मैंने दर्शन-क्षेत्र में ही "पंद्रहवीं शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यों की भक्ति-विषयक संधारणा" नामक विषय पर कुछ लिखने का प्रयास किया है । यद्यपि इन आचार्यों के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं तथापि चारों प्रमुख वैष्णव आचार्यों रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ के भक्ति-विषयक मनोविज्ञान तथा सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करके उनके सिद्धान्तों के तुलनात्मक रूप को प्रस्तुत करना ही मेरा उद्देश्य है । वैष्णव भक्ति परंपरा हमारे भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । वैष्णवों की भक्ति-विषयक मान्यताएँ ईश्वर के सगुण रूप को आधार बनाकर चलती हैं । ईश्वर के इस चित्ताकर्षक सगुण रूप को आधार बनाकर मध्यकाल में भक्ति की जो अनूठी धारा प्रवाहित हुई उसने विदेशी आक्रमणों और विरोधी परिस्थितियों से मूर्छित हिन्दू चेतना को नवजीवन प्रदान किया तथा उसके द्वारा आप्लावित भक्तों के मानस ने अभूतपूर्व साहित्य का सृजन किया । मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन ने न केवल हिन्दू अस्मिता की रक्षा की अपितु उसे एक नयी गरिमा और दृढ़ता प्रदान की । आध्यात्म के क्षेत्र में भी भक्तिपरक चिन्तनधारा ने अद्‌भुत क्रान्ति की और शंकराचार्य के सूक्ष्म अद्वैततत्त्व को अत्यन्त मनोहारी रूप में ढालकर जन-जन को दिव्य चेतना से सत्कृत होने का अवसर दिया । दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भी भक्ति तत्त्व से प्रभावित हो अनेक सिद्धान्तों एवं मतों की स्थापना हुई । अनेक आचार्यों ने श्रुति के द्वारा वर्णित परमतत्त्व के सगुण साकार रूप को आश्रय बना नवीन प्रस्थानों की

स्थापना की तथा अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्रों, भाष्यों तथा ललित साहित्य की सर्जना की ।

रामानुजाचार्य कालक्रम से आचार्य परंपरा में प्रथम हैं जिन्होंने विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की तथा वल्लभाचार्य अन्तिम हैं जिन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रचार किया । श्री चैतन्य भी यों तो वल्लभाचार्य के समकालीन हैं और भक्ति के क्षेत्र की महान विभूति भी तथापि स्वयं उनके द्वारा किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा न होने के कारण उन्हें औपचारिक रूप से आचार्य परंपरा में ग्रहण नहीं किया जाता । वैसे उनके शिष्यों के द्वारा अचिन्त्य-भेदाभेद विचारधारा को प्रश्रय दिया गया तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के रूप में इसे मान्यता भी मिली किन्तु इस शोध प्रबन्ध में श्री रामानुज से श्री वल्लभ तक की आचार्य परम्परा पर ही विचार किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में प्रबन्ध की भूमिका के रूप में दर्शन का प्रयोजन, मोक्ष के साधन के रूप में कर्म-ज्ञान की व्याख्या करने के पश्चात् भक्ति की परिभाषा, भक्ति का मनोविज्ञान, भक्ति के भेद व भक्ति के विकास का वर्णन है ।

द्वितीय परिच्छेद में क्रमानुसार प्रथम आचार्य रामानुज का जीवन-परिचय व रचनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् उनके सिद्धान्त के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव एवं जगत के स्वरूप की व्याख्या की गई है । मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करके मोक्ष के तीनों साधनों की चर्चा की गई है । इसके बाद मोक्ष के साधन के रूप में भक्ति का विस्तार से विवेचन किया गया है । जिसमें भक्ति का स्वरूप, भक्ति की अपेक्षाएँ, साधन व साध्य भक्ति तथा प्रपत्ति-मार्ग का वर्णन है ।

इसके बाद के अन्य तीनों (तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम) परिच्छेदों में क्रमानुसार मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ के विषय में रामानुज के ही समान विवेचन किया गया है । षष्ठ परिच्छेद में इन चारों आचार्यों के सिद्धान्त की प्रत्येक बिन्दु पर पाई जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं का उल्लेख करते हुए एक तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है ।

अन्तिम परिच्छेद में पूरे प्रबंध का सार संक्षेप प्रस्तुत करते हुये आचार्यों की भक्ति विषयक मान्यताओं का मूल्यांकन किया गया है । सुविधा के लिए प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में उस परिच्छेद का संक्षेप भी प्रस्तुत है ।

इस शोध कार्य को पूर्ण कर सकने में सबसे बड़ा सहयोग मेरी निर्देशिका डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा का है जो मेरी बड़ी बहन के तुल्या हैं । डॉ0 रामकुमार वर्मा जो मुझे बेटी के समान मानते थे उनके आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है यही मेरा विश्वास है । मुझे अत्यन्त दुःख है कि इसको समर्पित करने की इस शुभ वेला में आज वे हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनके आशीर्वाद से परिपूर्ण कर-कमलों का स्पर्श मैं आज भी अनुभव करती हूँ । मेरे पति डॉ0 विनय कुमार पाण्डेय (शिशु रोग विशेषज्ञ) ने ही मुझे इस शोध कार्य की प्रेरणा दी । उनके इस पुनीत कार्य के प्रति मैं हृदय से उनका आभार प्रकट करती हूँ । इसके अतिरिक्त अपने निकटस्थ सभी परिवारजनों, जिन्होंने मेरे इस कार्य में तन, मन, धन से जो सहयोग दिया है मैं उसके प्रति कृतज्ञता का अनुभव करती हूँ । मेरे पिता श्री योगेन्द्रनाथ उपाध्याय के सहयोगी श्री सुरेश चन्द्र ने समय पर टंकण कार्य सम्पन्न करके मेरे इस शोध कार्य को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में मुझे जो सहयोग प्रदान किया है उसके प्रति मैं उन्हें अपना धन्यवाद प्रकट करना

सत्य तो यह है उस परम पिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से ही यह कार्य सम्पूर्ण हो सका है जिन्होंने विभिन्न माध्यमों के द्वारा समय-समय पर व्यवधान आने पर भी मेरे इस कार्य में पुनः पुनः गति प्रदान की ।

चूँकि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध शोध की दिशा में मेरा प्रथम प्रयास है इसलिए आशा है विद्वज्जन मेरी त्रुटियों को क्षमा करने का प्रयास करेंगे ।

शैलजा पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद - भूमिका पृष्ठ संख्या 1-$60

भूमिका, दर्शन का प्रयोजन, ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन, जीव के स्वरूप का वर्णन, मोक्ष के स्वरूप का विवेचन, मोक्ष प्राप्ति के साधनों का वर्णन-कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग : भक्ति शब्द की व्याख्या, भक्ति की सेवा प्रधानता सेवा के प्रकार- तनुजा, वित्तजा व मानसी सेवा : भक्ति की परिभाषा, वेदों के अनुसार भक्ति-तत्त्व, ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति का उल्लेख, उपनिषद और भक्ति, नारद व शांडिल्य के व्दारा भक्ति की परिभाषा, गीता और भक्ति, भागवत पुराणों में भक्ति : भक्ति का मनोविज्ञान, भक्ति के भेद, भगवद्गीता के अनुसार भक्ति के भेद- अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु व ज्ञानी, भागवत् में भक्ति के भेद ॥1॥ साधन भक्ति- नवधा, गौणी, वैधी, लोक मर्यादा, ॥2॥ साध्य भक्ति- प्रेमाभक्ति, पराभक्ति, निष्काम भक्ति या भावभक्ति : साधनभक्ति के अंग; उपासक, उपास्य, पूजा-द्रव्य, पूजा-विधि, मन्त्र जाप : गुणों के अनुसार भक्ति के भेद; सात्त्विकी, राजसी, तामसी, निर्गुण : नवधाभक्ति के प्रकार, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन : साध्यभक्ति, साध्यभक्ति की प्रेमरूपता, प्रेम के प्रकार ॥1॥ भावोत्थ ॥2॥ अतिप्रसादोत्थ-महात्म्यज्ञानयुक्त, केवल या माधुर्यमात्रसंवलित : भक्ति के अनिवार्य साधन, ॥1॥ भगवत्कृपा किंवा अनुग्रह ॥2॥ गुरू आश्रय, ॥3॥ आत्मसमर्पण-शरणागति के अंग-अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का वर्णन, रक्षा में विश्वास, गोप्तृत्व का वरण, आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य ॥4॥ नाम ॥5॥ सत्संग : भक्ति का विकास, वैदिक मन्त्रों में भक्ति का स्वरूप : ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति, उपनिषदों की भक्ति, गीता और भक्ति, अवतारवाद एवं पुराणों की भक्ति, पान्चरात्र, आल्वार सन्त व वैष्णव भक्ति : निष्कर्ष ।

भूमिका

मानव एक विचारशील प्राणी है । सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य को यह जिज्ञासा रही है कि दृष्टिगोचर यह समस्त ब्रह्माण्ड वस्तुतः किस अदृष्ट शक्ति के व्दारा निर्मित है । एवं इसका विनाश या प्रलय भी किसके व्दारा नियंत्रित है । व्यक्ति की वास्तविक सत्ता क्या है ? व्यक्ति जो भी सुख-दुःख इस संसार में अनुभव करता है वह कहाँ तक सत्य है ?

जीव इस संसार में जन्म लेकर विभिन्न सुख-दुःखों का भोग कर पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है क्या वास्तव में जीव की यही गति है । क्या इस जीवन-मृत्यु के चक्र से कभी भी छुटकारा मिलना संभव है ।

इसी प्रकार के असंख्य प्रश्न मानव की बुद्धि को उव्देलित करते रहते है जिसके कारण दर्शन की उत्पत्ति हुई । चूँकि जिज्ञासा के कारण दर्शन की उत्पत्ति हुई है इसलिए इसमें सभी विषय प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रतीत होते हैं ।

विभिन्न मनीषियों एवं बुद्धि-जीवियों ने चूँकि व्यक्ति और जगत से सम्बन्धित संभावित सभी प्रश्नों या जिज्ञासा का समाधान अपनी-अपनी मेधा के अनुसार किया है इसलिए दर्शन में अनेक शाखाओं का विकास हुआ ।

व्यक्ति के मन की सभी जिज्ञासाओं का अन्त मुक्ति विषयक जानकारी के बाद ही होती है । इस संसार चक्र से छूटने का क्या महत्व है तथा यह किस प्रकार से साध्य है यह जानना ही प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है । क्योंकि वेदों में, उपनिषदों में, एवं अन्य सभी साहित्यों में इतना तो अवश्य ही वर्णित है कि संसार के सुख अथवा दुःख कुछ भी स्थायी नहीं है क्योंकि संसार तो स्वयं ही विनश्य है । ऐसी स्थिति में जीव के लिए यही एक उपाय है कि जो इस संसार को भी चलाने वाला है उस अदृष्ट शक्ति के

विषय में जानने की तथा उसी के सामीप्य या एकाकार के लिए प्रयत्न करना चाहिए । एवं उस साध्य को पाने के लिए जो भी उचित एवं संभव मार्ग प्राचीन ग्रन्थों एवं आचार्यों के व्दारा बताये गये हैं उनमें से जो जिस व्यक्ति के व्दारा साधनीय हो उसकी साधना करनी चाहिए ।

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु के स्वरूप को जाने बिना हम उसे पाने का प्रयास कदापि नहीं करते हैं । अतएव सर्वप्रथम उस अदृष्ट शक्ति के स्वरूप को समझना प्रत्येक मुमुक्षु या साधक के लिए अनिवार्य है ।

ब्रह्म या उस सर्वशक्तिमान ईश्वर के विषय में वेदों से लेकर आज तक जितने भी आचार्य, कवि, लेखक हुए सभी ने अपने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं । जिसमें से संक्षेप में ब्रह्म का दो ही स्वरूप सामने आता है ॥1॥ निर्गुण या निराकार ब्रह्म ॥2॥ सगुण या साकार ब्रह्म ।

इसमें से निर्गुण का अर्थ विभिन्न भावों में किया गया है । जैसे शंकराचार्य ने निर्गुण का अर्थ किया है शुद्ध ब्रह्म या निरूपाधिक ब्रह्म । शंकर ने माया शक्ति को ही उपाधि माना है । अतएव ब्रह्म की इच्छा शक्ति होने के कारण माया इस सृष्टि का कारण है । जब ब्रह्म माया से रहित होता है तो वह निर्गुण या निराकार ब्रह्म कहलाता है लेकिन जब वह माया सहित या माया से उपहित होकर इस सृष्टि की रचना करता है तब वह सगुण, साकार ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है ।

जबकि रामानुज ने निर्गुण का अर्थ हीन गुणों से रहित एवं सगुण का अर्थ सर्वोच्च्य गुणों से युक्त किया है । जैसा कि उन्होंने अपने श्रीभाष्य में भी स्पष्ट किया है :-

" न च निर्गुण वाक्य विरोधः प्राकृतहेयगुणविषयत्वात् तेषां निर्गुणं, निरजनं, निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तम् इत्यादीनाम् ।"[1]

1- श्रीभाष्य प्र0ख0अनु0 आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी- पृ0 110

अर्थात् ब्रह्म की निर्गुणता मानने वाले वाक्यों से किसी प्रकार की विरूद्धता भी नहीं होती । निर्गुण संपर्क रहित अखंड क्रियाहीन शान्त आदि वाक्य प्राकृतहेय गुणों से शाहित्य के सूचक हैं ।

और इसी प्रकार उन्होंने सगुणता का प्रतिपादन करते हुये लिखा है :-

"वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्ये वोपपद्यन्ते मनोमयः प्राणशरीरी भास्यः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यातो वाक्यनादरः इति ।"[1]

इसी सगुण एवं निर्गुण स्वरूप वाले ब्रह्म को उपनिषदों में ऋषियों ने "तस्मिन् दृष्टे परावरे"[2] आदि कह कर प्रभु के पर और अवर रूपों का उल्लेख किया है । डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है कि "प्रभु का अवर रूप जगत की और हमारी अपेक्षा से है अतः वह प्रभु का सापेक्ष रूप कहा जा सकता है । प्रभु का पर रूप उसका अपना वास्तविक रूप है जिसका कोई सम्बन्ध जगत और जीवों के साथ नहीं है इसे हम निरपेक्ष रूप कह सकते हैं ।"[3]

इसी प्रकार से ब्रह्म विषयक अनेक धारणाओं से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि ब्रह्म सर्व शक्तिमान् सत्ता है जो संसार व जीवों की उत्पत्ति, भोग और नाश का मूल कारण है ।

अब जीव जो कि वस्तुतः ब्रह्म का ही अंश है लेकिन ब्रह्म से बहुत क्षीण गुण वाला होने के कारण (जैसे कि अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाला) सदैव

1- श्रीभाष्य प्र०ख० अनु० आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी- पृ० 397

2- मुण्डक- 2:2:8/भु-भक्ति का विकास-डॉ० मुंशीराम शर्मा-पृ० 37

3-

ब्रह्म को जानने के लिए या दूसरे शब्दों में ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए सदैव बेचैन रहता है । क्योंकि आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अंश होते हुए भी सदैव यह जीव इस जड़ प्रकृति एवं अन्य अल्पज्ञ जीव से जब कुछ अपेक्षा करता है तो सिवाय निराशा या दुःख के उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि ब्रह्म पूर्ण है बाकी जीव व जगत अपूर्ण हैं । जो स्वयं अपूर्ण है वे दूसरे को क्या दे सकते हैं जैसे कोई व्यक्ति अपने माता-पिता, पत्नी-पुत्र, सखा-मित्र आदि से जब निराश हो जाता है, अपने धन-वैभव और संसार की अनेक अभिलाषित वस्तुओं को प्राप्त करके भी जब आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक सुख की प्राप्ति नहीं कर पाता है तो हठात् ही उसका ध्यान उस परम पिता परमेश्वर की तरफ खिंच जाता है जो आनन्दस्वरूप है । जिसके पास पहुँच कर आनन्द के सिवाय और कुछ प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं होता है । कहा भी गया है कि "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" ।

अतएव सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, व्यापक, असीम होने के कारण ब्रह्म अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान्, व्याप्य, ससीम जीव का उपास्य हो जाता है एवं जीव उपासक हो जाता है । क्योंकि ज्ञानमार्गी, कर्ममार्गी एवं भक्तिमार्गी सभी ने उपासना को पूर्णरूपेण महत्व दिया है । कर्म, ज्ञान और भक्ति ये सभी मोक्ष या ब्रह्म साक्षात्कार के साधन हैं ।

जिस प्रकार ब्रह्म के विषय में सभी के अलग-अलग विचार हैं उसी प्रकार मोक्ष की भी बहुत अलग-अलग धारणाएँ हैं । जैसे कि उपनिषदों में कर्म बन्धनों से आबद्ध जीव को सर्वथा छुटकारा मिलना ही मोक्ष बताया गया है । गीता के अनुसार ईश्वर का लाभ करना मोक्ष है । इसे ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है क्योंकि पुरुष को ब्रह्म लाभ होता है । पुरुष प्रकृति के गुण और विकास से

जाता है । जबकि शंकराचार्य ने कहा है कि अविधा की निवृत्ति से हमारे बन्धन और दुःख दूर हो जाते हैं और यही मोक्ष की स्थिति है । अपनी आत्मा को जानना या आत्म साक्षात्कार ही मोक्ष है ।

जैनियों एवं बौद्धों ने मोक्ष तथा निर्वाण को क्रमशः सभी कर्मों का क्षय और सभी दुःखों का उपशय कहा है ।

इस प्रकार मोक्ष विषयक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि किसी न किसी प्रकार से स्थूल जगत एवं विषयों तथा कर्मों से चित्त को हटाकर मन को एकाग्र करके प्रभु स्मरण, विधा का अभ्यास अथवा कर्मासक्ति का त्याग करके सुख की प्राप्ति या मोक्ष अथवा शान्ति प्राप्त कर सकता है ।

हमारे भारतीय धर्म में इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कई मार्ग बताये गये हैं । जैसा कि पूर्व पृष्ठ पर ज्ञानमार्गी, कर्ममार्गी एवं भक्तिमार्गी साधकों का उल्लेख है उसी के अनुसार साधना के ये तीन मार्ग बताये गये हैं ।

1- ज्ञान

2- कर्म

3- भक्ति

भले ही इन तीनों को अलग-अलग प्रकार से समझाया गया है लेकिन वस्तुतः ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं । ऐसा नहीं कि ज्ञान में कर्म मिश्रित न हो या भक्ति में ज्ञान समन्वित न हो । लेकिन सर्वप्रथम तो हमें इन तीनों को अलग-अलग ही समझाना है कि ये तीनों मार्ग वस्तुतः हैं क्या ?

कर्ममार्ग-

कर्म मार्ग या कर्म योग की शिक्षा जितनी अच्छी प्रकार से गीता में वर्णित है उतनी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती है । ऐसा नहीं है कि वेदोपनिषद् काल में कर्म का महत्व नहीं था । बल्कि वेद तो पूरी तरह से कर्मकाण्ड पर ही आधारित है जैसे हवन, यज्ञ इत्यादि का उसमें विधिवत् विधान किया

गया है । लेकिन उस काल में कर्म आसक्ति से परिपूर्ण था । जैसे कोई राजा यज्ञ करता था पुत्र-प्राप्ति के लिए तो साधारण मनुष्य धन वैभव के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे । इसी प्रकार जिसको धन-वैभव, पुत्रादि सभी सुख उपलब्ध थे वे स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान करते थे "स्वर्गकामो यजेत्" ।

लेकिन गीता ने कर्मयोग की ऐसी शिक्षा दी जो कि अपने आप में एक अतुलनीय योगदान है । कर्मयोग का तात्पर्य है अपने कर्तव्यों का निष्काम रूप से पालन करना । इसके साथ ही गीता यह भी निर्धारित करती है कि एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य है ।

इसके अतिरिक्त विवेक से परम तत्व की उपलब्धि होती है ऐसा सभी दर्शन स्वीकार करते हैं । विवेक के चित्तशुद्धि अनिवार्य है । कर्मानुष्ठान से ही चित्तशुद्धि संभव है अतएव इसलिए भी कर्म का महत्व साध्य प्राप्ति में बहुत अधिक है ।

विचार-विहीन गति को कर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है क्योंकि निद्रा में करवट लेना गति है कर्म नहीं । लेकिन जब हम शरीर की शुद्धि के विचार से व्रत रखते हैं तो यह कर्म कहलाता है । अतएव गति प्रधान तमोगुण का अन्तर्भाव कर्म प्रधान रजोगुण में स्वमेव हो जाता है ।

अनासक्त रूप से अपने कर्तव्य का पालन करने वाले कर्मयोगी को पाप व पुण्य नहीं लगते जैसा कि कृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन से कहा है :-" सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर फिर युद्ध में प्रवृत्त होने से तुम पाप के भागी न बनोगे ।"

" सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।" §2, 38§

कर्मयोग में अहंकार का परित्यागकर देना पड़ता है । साधारणतः जब हम कर्म करते हैं तो अपने को कर्ता मानते हैं । यही कर्तापन का अभिमान

ही अहंकार है । श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है-

" प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।" §3,26§

इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं अतएव अपने अन्तःकरण में " मैं कर्ता हूँ" ऐसा मानकर अहंकार नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मयोग का आचरण करता हुआ मनुष्य मोक्ष या परब्रह्म को प्राप्त करता है । क्योंकि कर्मयोग में वेद विहित कर्मों का पालन् अनासक्त भाव से अहंकार रहित होकर जो मनुष्य करता है वह निश्चय ही मुक्ति का अधिकारी है-

" तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः ।।" §3,19§

लेकिन ईश्वर की प्राप्ति का जो यह मार्ग है वह रजोगुण से पूरी तरह आच्छादित है । चूँकि रजोगुण का अन्तर्भाव सत्वगुण में होता है जो ज्ञान व प्रकाश का क्षेत्र कहा जाता है इसलिए कर्म ज्ञान में लीन हो जाता है । गीता ने जो ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मराशि का भस्म हो जाना लिखा है उसका यही आधार है ।

ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग-

मोक्ष का दूसरा साधन ज्ञानमार्ग है । इसमें हम तत्त्व-ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं । "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" अर्थात् मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है । भगवद्गीता में ज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व दिया है । भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।" §4,39§

ज्ञान-मार्ग के प्रबल समर्थक शंकराचार्य जी ने भी ज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना है । इनका ज्ञानमार्ग श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की प्रक्रिया है । उनका यह मत है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है बाकी सम्पूर्ण जगत मिथ्याभूत है । माया के कारण ये सम्पूर्ण जगत प्रतिभासित होता है । (जीव) आत्मा व ब्रह्म वस्तुतः एक हैं क्योंकि दोनो ही शुद्ध, चैतन्य और आनन्दस्वरूप हैं । जब आत्मा या जीव अपने को स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से पृथक जान लेता है तब ही उसे किसी विषय की आकांक्षा नहीं रहती है और वह केवल आनन्द रूप हो जाता है । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप को समझ समझना एवं जीव तथा ब्रह्म के अभेद विज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

सांख्य के अनुसार मोक्ष का साधन ज्ञान-मार्ग है । लेकिन इसमें पुरुष और प्रकृति का विवेक ज्ञान होता है ।

आत्मज्ञान के साक्षात्कार के लिए अभ्यास आवश्यक है और अभ्यास के लिए वैराग्य । वैराग्य कर्म सन्यास की शिक्षा देता है । अतएव ज्ञान मार्ग के साथ कर्म-मार्ग का सह-समुच्चय नहीं है । लेकिन ज्ञान के पूर्व कर्म का महत्त्व है :- "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (वृह0 2/4/5) । इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि कर्तव्यों का प्रयोजन ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति है ।

रामानुज ने ज्ञानमिश्रा भक्ति को स्वीकार किया है । उनके अनुसार ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है । मुक्ति के लिए सच्चे मार्ग की आवश्यकताएँ है । सच्चा मार्ग अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति । ऐसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति वेद, शास्त्र, गुरु और ईश्वर में सत्य बुद्धि से होती है । शंकराचार्य के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म को जानना ही ब्रह्म होना है और यही मोक्ष है इसलिए इनके सिद्धान्त में प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष है । लेकिन

रामानुज ने ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति को ही मोक्ष माना है अतएव इसमें ज्ञान साधन है ।

वैसे तो ज्ञानमार्ग के विषय में इतनी चर्चा काफी संक्षिप्त मानी जायेगी लेकिन भक्तिमार्ग की प्राणभूता भक्ति पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित होने से अब भक्तिमार्ग की चर्चा प्रारम्भ की जा रही है । क्योंकि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय ही है " पंद्रहवीं शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यों व्दारा भक्ति विषयक संधारणा"। प्रस्तुत प्रबन्ध में भक्ति की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व दर्शन, ब्रह्म, मोक्ष, मोक्ष के साधन इन विषयों को संक्षेप में समझाये बिना भक्ति का संदर्भ समझना कुछ कठिन होता है ।

भक्तिमार्ग-

मोक्ष प्राप्ति के साधनों में तृतीय मार्ग भक्तिमार्ग है । बहुत से ऋषियों आचार्यों एवं विव्दानों ने ब्रह्म प्राप्ति का ये मार्ग अन्य दोनों मार्गों की अपेक्षाकृत श्रेष्ठतम एवं सरलतम बताया है ।

आगे के विस्तृत विवेचन के उपरान्त ये सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि विव्दानों ने इसे सर्वजन साध्य बताया है ।

जिस गीता में कर्मयोग तत्पश्चात् ज्ञानयोग का इतना अधिक महत्त्व बताया गया है उसी गीता में ईश्वर लाभ का अन्तिम उपाय भक्ति ही बताई गई है । भक्त वही है जो सब कुछ छोड़कर भगवान का ही नाम जप करता है

" सततं कीर्तयन्तो मां यतन्त च दृढव्रताः ।
नमस्यन्त च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।" {9, 14}

आचार्य शंकर जो कि ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं उनका भी यह मत है कि चित्त की निर्मलता के लिए भक्ति आवश्यक है । उन्होंने स्वयं स्तुतिपरक अनेक ग्रन्थों की रचना की । वे भक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसे ज्ञान का उपकारक मानते हैं ।

और परवर्ती सभी वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही मोक्ष का साधन माना है जिसमें से रामानुज ने तो ज्ञानमिश्रा भक्ति पर बल दिया जबकि परवर्ती आचार्यों में से मध्व ने ज्ञानात्मिका भक्ति को माना है । वल्लभ ने विशुद्ध निष्काम भक्ति पर बल दिया तथा निम्बार्क प्रेमात्मिका भक्ति को मानते हैं ।

इन सभी का विस्तृत विवेचन बाद में किया जायेगा ।

अनेक सूफी एवं संत कवियों ने ईश्वर की भक्ति की महिमा गाई है ।

भक्तिमार्ग ऐसा मार्ग है जिसकी महिमा वेद से लेकर नवीनतम काव्यों में बहुत ही प्रबल प्रमाणों सहित बताई गई है ।

भक्तिमार्ग को ठीक से समझने के लिए सर्वप्रथम भक्ति के स्वरूप को समझना आवश्यक है । भक्ति के स्वरूप के विवेचन में हमें सबसे पहले भक्ति शब्द की व्याख्या करनी चाहिए जिससे ये स्पष्ट हो सके कि इस शब्द का व्युत्पत्यात्मक अर्थ क्या है ।

भक्ति शब्द की व्याख्या-

भक्ति शब्द "भज्" धातु से बना है । जिसका अर्थ है "सेवा" । भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति हुई है । क्तिन् प्रत्यय स्त्री लिंग वाचक होता है । क्तिन् प्रत्यय का अर्थ प्रेम होता है । इसलिए भक्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ है प्रेमपूर्वक की गई सेवा । इसलिए भक्ति शब्द का अर्थ वह भाव जिसमें सेवा अन्तर्भूत हो । इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति का शाब्दिक अर्थ अर्थ तो है । सेवा करना । लेकिन प्रश्न ये उठता है कि किसकी सेवा और किसके व्दारा सेवा ।

इसका समाधान स्वयं वैदिक काल से हमारे ऋषियों और विव्दानों ने किया है उनका कहना है कि सेवा के व्दारा ईश्वर को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है और ये सेवा कई प्रकार की होती है जैसे:- तनुजा

2- वित्तजा 3- मानसी

तनुजा-

तन का अर्थ केवल शरीर का अंग ही नहीं है। बल्कि देह जनित सम्बन्धों जैसे स्त्री, पुत्र आदि का भी है। इस प्रकार से तन से की गई सेवा तनुजा कहलाती है।

वित्तजा-

धन एवं द्रव्य से की गई सेवा वित्तजा कहलाती है।

मानसी-

मन की समस्त वृत्तियाँ कृष्ण में तन्मय हो जाती है। इस सेवा में भाव का निर्मल अर्ध्य और भाव का ही सुमन चढ़ता है। लेकिन मानसी सेवा के पूर्व भक्ति के आकांक्षी भक्त को क्रिया प्रधान तनुजा-वित्तजा सेवाओं का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। क्योंकि इनसे संसार के दुःखों से निवृत्ति तथा ब्रह्म का बोध जागृत होता है।

सेवा का यह अर्थ हमारे परवर्ती आचार्य वल्लभ ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त मुक्तावली {षोडश ग्रन्थ} में बताया है।

वैसे इन तीनों प्रकार की सेवा को हम कीर्तन, स्मरण, वन्दन आदि नवधा भक्ति के व्दारा भी अभिहित कर सकते हैं। जैसा कि भागवत महापुराण में बताया गया है। नवधा भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति में प्रबलतम साधन है।

वल्लभ ने जिसे मानसी सेवा कहा है वह ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण है। अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त इस भक्त के पास और कोई भी गुरू सखा मित्र इत्यादि नहीं है। वह अपना सुख-दुःख सभी कुछ ईश्वर में ही अर्पित कर ईश्वरमय हो जाता है।

भक्ति शब्द के विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि तन, मन, धन को भजना ही भक्ति है और यही मोक्ष का व्दार है।

भक्ति को हमारे प्राचीन ग्रन्थों से लेकर आज के संत कवियों ने भी अपने-अपने विचार के अनुसार, अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार परिभाषित किया है । आगे हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे ।

भक्ति की परिभाषा-

वेद हमारे भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं इसलिए हम सर्वप्रथम वेदों में भक्ति का क्या अर्थ माना गया है इसको स्पष्ट करेंगे । सर्वप्रथम तो वेदों में भक्ति को स्तुतिपरक माना गया है । इसके पर्याप्त उदाहरण भी प्राप्त होते हैं :-

" माचिदन्यद् विशंसत सखायो मारिषण्यत् ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्थ्या च शंसत ।।"

अर्थात् हे सखा साधको । प्रत्येक यज्ञकर्म में मिलकर कामनाओं को पूर्ण करने वाले परमेश्वर की स्तुति करो । बार-बार उसी का गुणगान गाओ, उसी के नाम का जाप करो । प्रभु के अतिरिक्त और किसी की भी प्रशंसा मत करो । क्योंकि अन्य की स्तुति विनाशकारी है ।

उपर्युक्त उदाहरण में ऋषियों ने लोगों को यह समझाने की चेष्टा की है कि ईश्वर या ब्रह्म की स्तुति (गुण-कीर्तन) से ही प्राणी मात्र का कल्याण है । अतः इस प्रकार हम देखते है वैदिक काल में भक्ति अर्थ स्तुति या उपासना था ।

वेदों में भक्ति का सम्बन्धपरक स्वरूप भी परिलक्षित होता है । भक्त ईश्वर की स्तुति, उसकी उपासना तो करता है लेकिन उस परम पिता के साथ स्वामी, सखा, पिता, माता, पति आदि सम्बन्धों को स्थापित करके उनका स्मरण या ध्यान करता है :-

" त्वं हि नो पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अथा ते-
सुम्नमीमहे ।" (ऋ0 8, 98, 11)

अर्थात् प्रभु तुम्हीं हमारे पिता हो, तुम्हीं हमारी माता हो । हे अनन्त ज्ञानी आप से ही हम आनन्द प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं । इस प्रकार से वेदों में भक्ति का सम्बन्धात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है । ऋषियों ने परमेश्वर का मानवीकरण किया है जिसके कारण भक्त जन उस ईश्वर को अपने अत्यन्त निकट अनुभव कर सकें । वे उन्हें कोई विचित्र रूप में न देखें । अपने ही आस-पास रहने वाले माता-पिता आदि के समान समझ कर उस ईश्वर का प्रेम पूर्वक गुणगान करके उनका ध्यान करें और अपने लिए कल्याण की इच्छा करें ।

जब व्यक्ति ईश्वर से कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तब ईश्वर के प्रति उसका सहज प्रगाढ़ प्रेम स्वमेव प्रकट हो जाता है । बाद में श्रीमद्भागवत में भी इसी अनन्य प्रेम को भक्ति कहा गया और रामानुज के बाद के वैष्णव आचार्यों ने भक्ति में उत्तरोत्तर प्रेम के अधिकतर महत्त्व को स्वीकार किया । निम्नलिखित ऋग्वेद के मन्त्र में प्रेम संवलित भक्ति-भावना दृष्टिगोचर होती है :-

" को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्तउस्त्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ।।"

-ऋ0 4, 25, 2

यहाँ कौन है जो उस सौम्य प्रभु के आगे स्तुतिवचनों द्वारा प्रणत होता है ? ऐसा कौन है जो उसके मनन की उसे मन में लाने की इच्छा करता है और उसकी किरणों को अपने अन्दर धारण करता है ? ऐसा कौन है जो प्रभु के साथ रहने की उसका सखा बनने की और उसके भ्रातृ-भाव की कामना करता है । है कोई ऐसा प्रभु का प्यारा भक्त जो उस महान कवि के लिए अपने हृदय में भक्ति-भावना रखता हो ?

ब्राह्मण-ग्रन्थ में भक्ति की परिभाषा-

ब्राह्मण ग्रन्थ में भक्ति की परिभाषा प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलती है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। फिर भी ऐतरेय ब्राह्मण में ओंकार जप के विधान को शब्द भक्ति मानकर हम भक्ति को परोक्ष रूप से देख सकते हैं। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में जो यज्ञ का विधान किया गया है उसे भक्ति का अंग माना जा सकता है क्योंकि-

" दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् । {1, 13}

इस पद में जो अपने को पवित्र करने की बात कही गई है वह यज्ञ एवं भक्ति दोनों के लिए अपेक्षित है।

ब्राह्मण के बाद उपनिषदों में भक्ति की परिभाषा ढूँढने पर हम पाते हैं कि इसमें श्रद्धा और गुरू को भक्ति का अनिवार्य अंग माना गया है -

" यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।" {6, 23} श्वेता०

अर्थात् जिसकी परमेश्वर में परम भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरू में भी है, उस महान पुरूष के हृदय में ये कहे हुये रहस्यमय अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं।

इस प्रकार के श्लोकों में उपनिषदों ने भक्ति का कुछ आभास दिया है। लेकिन भक्ति का साङ्गोपाङ्ग वर्णन हम उपनिषदों में नहीं पाते हैं। उपनिषदों में भक्ति अपनी बीजावस्था में अवश्य विद्यमान थी।

नारद के अनुसार भक्ति की परिभाषा के विवेचन के बिना तो भक्ति की परिभाषा अधूरी रह जायेगी। क्योंकि इन्होंने अपने मात्र 84 सूत्रों में भक्तियोग का जैसा सशक्त वर्णन किया है वह किसी दिव्य पुरूष द्वारा ही संभव है। नारद कहते हैं " सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा"[1] अर्थात् वह भक्ति एक मात्र

1- नारदभक्ति सूत्र-1/2 नारद भ०सू०-2/3

ईश्वर में परम प्रेमरूपा है । एवं "अमृतस्वरूपा च"[1] वह भक्ति केवल परमा प्रेमरूपा ही नहीं बल्कि अमृतस्वरूपा भी है । क्योंकि सांसारिक प्रेम में प्रतिक्रिया है उसका अंत है और उसमें विकार की संभावना है । यह प्रेम "मैं", "मेरा" इस अज्ञान को आश्रय लेकर उद्‌भूत एवं संवर्धित होता है जबकि प्रेमाभक्ति में ऐसा नहीं है भय-मृत्यु के सम्बन्ध से रहित परमानन्द ही इसका स्वरूप है ।
शांडिल्य के अनुसार भी भक्ति "सा परानुरक्तिरीश्वरे"[2] है अर्थात् प्रभु में पराकाष्ठा की अनुरक्ति रखना ही भक्ति है । ईश्वर में अत्यधिक प्रेम को ही इन आचार्यों ने भक्ति कहा है ।
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी स्वयं भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है कि-

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।" (8, 14)

अर्थात् हे अर्जुन जो पुरूष मुझमें अनन्य चित्त हो कर सदा ही निरन्तर मुझ पुरूषोत्तम को स्मरण करता है । उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ ।

इसमें भी भक्ति का लक्षण निरन्तर ईश्वर का अनन्यभाव से स्मरण ही बताया गया है । प्रेम का महत्त्व बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

" ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।" (9, 29)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम सहित भक्ति से ईश्वर का सदा स्मरण एवं भजन ही भक्त को ईश्वर का साक्षात्कार करता है ।

1- नारद भ०सू०-2/3

2- शांडिल्य सूत्र-2

भागवत पुराण में भक्ति तत्व की परिभाषा देते हुए भगवान ने कहा है कि-
" जो गद्‌गद वाणी में द्रवितचित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी लज्जा को छोड़ गाता हुआ और नाचता हुआ मेरी भक्ति में निरत होता है वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है ।"

-[भा०एका. स्क.अ-4, श्लोक 24]

भागवत के अनुसार भक्ति का जो स्वरूप बताया गया है उसे हम प्रभु चैतन्य की भक्ति में स्पष्ट रूप से देखते हैं । मीरा की भी भक्ति में स्पष्ट रूप उसी कोटि की थी । उपर्युक्त वर्णन में कीर्तन पक्ष पर अधिक प्रकाश डाला गया है । प्रेम में तन्मय होकर किया गया स्मरण और कीर्तन ही भक्ति है । इस प्रकार से भागवत में भी प्रेम प्रधान भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है ।

किसी भी भावना के पीछे जो मानसिक वैज्ञानिक प्रक्रिया कार्य करती है उसे उस भाव का मनोविज्ञान कहा जाता है । इसलिए भक्ति भावना के पीछे किस प्रकार से मानसिक प्रक्रिया कार्य करती है उसका भी विवेचन अनिवार्य है ।

भक्ति का मनोविज्ञान-

मनोविज्ञान का विषय है मन की समस्त क्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण । भक्ति भी एक मानसिक प्रक्रिया है अतः इसका भी विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया जाना चाहिए ।

भक्ति का सबसे प्रमुख तत्त्व है प्रेम । और मनुष्य में प्रेम संवेग के रूप में अधिक व्यक्त होता है । व्यक्ति प्रेम में कभी हँसता है, कभी गाता है और अपने प्रिय के विरह में रोता भी है । ऐसी स्थिति में हम देखते हैं कि प्रेम कई सामान्य क्रियाओं के व्दारा प्रकट होता है । लेकिन ये प्रेम लौकिक व्यक्ति एवं वस्तु के प्रति होने के कारण कभी भी व्यक्ति की इच्छाओं को पूर्णरूप से संतुष्ट नहीं कर पाता है क्योंकि अज्ञान से आच्छादित होने के कारण मानव

में तो स्वयं ही आनन्द का आभास मात्र है पूर्ण रूपेण आनन्दमयता उसमें नहीं है ।

एक प्रभु ही विशुद्ध आनन्द स्वरूप होने के कारण व्यक्ति को पूर्ण आन प्रदान कर सकते हैं । क्योंकि जिसके पास जिस चीज की प्रचुर मात्रा होती है वह अपने सम्पर्क में आये हुये को उसका पूरा लाभ अवश्य प्रदान करता है ।

इसी से भक्ति इस प्रेमरूपी संवेग को भगवान या परब्रह्म में नियोजित करती है । प्रेम की यह विवशता है वह बिना आधार या आश्रय के नहीं रहत है । अतः हमारे ऋषियों एवं आचार्यों ने ये सोचा कि इस प्रेम का आधार ईश से अच्छा और क्या हो सकता है । इसलिए हमारी चित्त की समस्त वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख बनाने के लिए ही उपदेश दिये ।

चित्त की वृत्तियाँ विषयाकाराकारित होकर ही अपना स्वरूप निर्धारित करती है । अतः जब ये वृत्ति भगवान को अपना विषय बना लेती है तो फिर निरन्तर अबाध गति से ज्ञानमय श्रीभगवान के रूप में रूपान्तरित ये वृत्तियाँ व्यक्ति को अज्ञान के अन्धकार से प्रकाश और आनन्द की तरफ ले जाती है ।

चित्त की समस्त वृत्तियों में चूँकि प्रेम सबसे सुन्दर एवं सरल है इसलि प्रेम रूपी भक्ति के व्दारा ईश्वर के समीप पहुँचना व्यक्ति के लिए अधिक सुगम है । वैसे प्रेम को ही उत्कृष्ट भक्ति माना गया है । जैसा कि पहले भी कहा गया है और आगे भक्ति के भेद प्रसंग में इसका विशद विवेचन किया जायेगा ।

" मन की प्रवृत्तियों तभी तक विषयोन्मुख रहती हैं जब तक कि भगवत्प्रेम उन्हें आयन्त नहीं कर लेता है"[1] ये शब्द हैं डॉ0 मीरा श्रीवास्तव के जिन्होंने अपनी पुस्तक "मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय" में पृष्ठ 76 पर बताया है कि इस भगवत्प्रेम की तुलना में सारे प्रेम

विषयजन्य ठहरते हैं ।

" अलि पतङ्‌ मृग मीन गज चातक चकइ चकोर ।
ये सब झूठे नेह में बँधे विषय की डोर ।।

जँह लगि लालच विषय की सो न होय ध्रुव प्रेम ।
तासों कहा बसाइ ध्रुव पीतल सों कहै हेम ।"-प्रीति चौवनी लीला, पृ0 58

भक्ति के समस्त अंगों में आत्म निवेदन भी एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है । "प्रभु के आगे अपने हृदय को खोलकर रखना, अपनी समस्त निर्बलता का उद्‌घाटन मनोविज्ञान में आत्मनिरीक्षण या अन्त:दर्शन कहलाता है ।"

-॥डॉ0 मुंशीराम शर्मा-भक्ति का विकास पृ0 319॥

इस प्रकार से अपने को देखना या अपने गुण दोषों का विवेचन ही अन्तदर्शन है और आत्मनिवेदन में हम अपने गुणों और दोषों सहित प्रभु के आगे अपना हृदय खोलकर रख देते हैं । फिर जब जन्म जन्मान्तर के संस्कार हमें अपने दोषों को दूर करने के प्रयास में बाधा डालते हैं तो हम भगवान के सामने असहाय होकर रो उठते हैं कि "हे प्रभु मुझे इस पाप के पथ से हटने की शक्ति दो ।" और इस प्रकार जब ईश्वर के सामने हम अपनी असहायता प्रकट कर देते हैं तो हमें एक आत्म सन्तोष मिलता है । और ये सोचकर कि ईश्वर मुझे शक्ति देगा हम अपने अन्दर शक्ति का संचार अनुभव करने लगते है और पवित्र मन से बार-बार ईश्वर का स्मरण करते हुये प्रेमभक्ति के पथ पर आगे बढ़ जाते हैं ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूजा के भाव का अर्थ पूज्य का अनुकरण करना । इसीलिए अन्त:करण की पवित्रता का सम्पादन भक्त को पवित्रता के स्त्रोत प्रभु की ओर उन्मुख कर देता है ।

ईश्वर में लगी हुई भक्त की एकतानवृत्ति भक्त की आत्मा को प्रभु के साथ तदाकार कर देती है । मनोविज्ञान की प्रसिद्ध उक्ति है 'As a man-thinks, so is the

हम जैसा विचार करते हैं वैसे ही बन जाते हैं । प्रभु परायणता की भावना आत्मा की कामनाओं को सब ओर से हटाकर प्रभु में केन्द्रित कर देती है । आत्मा का लक्ष्य प्रभु रह जाता है । यही साध्य भक्ति है ।

भक्ति के भेद-

वैदिक काल में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ नहीं हुआ था जिसके कारण उस समय भक्ति का केवल उपासनात्मक रूप ही प्रचलित था । बाद में जब भागवतपुराणों में नवधा भक्ति और साध्यभक्ति का निरूपण हुआ तब हम पाते हैं कि नवधा भक्ति के अर्चन, वन्दन इत्यादि अंगों सहित भक्ति अपने साधनावस्था में ही वैदिक काल में प्रचलित थी ।

उसके पश्चात् ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल में भी भक्ति के विषय में जो कुछ भी कहा गया वह सब भक्ति की महिमा का वर्णन अधिक था न कि भक्ति के स्वरूप का ।

सर्वप्रथम भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भक्तों के भेद बताये हैं कि अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु, ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के भक्त उनको भजते हैं ।

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो र्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।" §7,16§

इस प्रकार भक्तों की भावनाओं के पृथक-पृथक होने के कारण उनके द्वारा की गई भक्ति भी चार प्रकार की हो गई ।

§1§ अर्थार्थी की भक्ति-सांसारिक पदार्थों के लिये की गई भक्ति
§2§ आर्त्त की भक्ति-संकट निवारण के लिए की गई भक्ति
§3§ जिज्ञासु की भक्ति-भगवान के यथार्थरूप को जानने की इच्छा से की गई भक्ति
§4§ ज्ञानी की भक्ति-भगवान को जानने वाले भक्त की भक्ति§तत्वज्ञान§

श्रीमद्भागवत महापुराणों में भक्ति का विशद साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है । सत्य तो यह है कि भागवत भक्ति प्रधान ग्रन्थ है । परवर्ती आचार्यों

में वल्लभाचार्य इसी ग्रन्थ के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हुये अपने भक्ति विषयक सिद्धान्त की रचना की । और भी अन्यान्य आचार्यों ने भागवद् का सहारा लेकर ही भक्ति तत्व को समझा है । नारद ने भी भागवत में भक्ति का जो वर्गीकरण गुण भेद के आधार पर किया गया है उसका उल्लेख किया है " गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादि भेदाद् वा" [56] अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः तीन प्रकार के गुण भेद के कारण अथवा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त के इन तीन प्रकार के भेदों के कारण गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है ।

इस प्रकार हम ये देखते हैं कि नारद ने भी गौणी भक्ति एवं प्रेमाभक्ति इस रूप में भक्ति के दो भेद माने हैं । क्योंकि अपने सूत्रों में सर्वप्रथम इन्होंने प्रेमभक्ति या पराभक्ति का ही विशद विवेचन किया है ।

इसी गौणी भक्ति व प्रेमाभक्ति को क्रमशः साधन भक्ति व साध्य भक्ति भी कहा जाता है । अथवा भागवत् में साधन भक्ति को नवधा भक्ति कहा गया है क्योंकि इसमें श्रवण मनन आदि नौ प्रकार के अभ्यास व्दारा साध्य भक्ति या पराभक्ति को सिद्ध किया जाता है ।

संक्षेप में भक्ति के जितने भी भेद जितने भी ग्रन्थों में बताये गये हैं उनका समीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है- भक्ति दो प्रकार की है-
1- साधन भक्ति या नवधा या वैधी या गौणी या लोक मर्यादा
2- साध्य भक्ति या प्रेमाभक्ति या पराभक्ति या भावभक्ति इत्यादि ।
साधन और साध्यरूपा भक्ति को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य-निरन्तर श्रवण, कीर्तन और आराधन आदि भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान में परानुरक्ति या अहैतुकी अप्रतिहता भक्ति भावना प्रेम भक्ति उसका साध्य पक्ष है ।

सर्वप्रथम हम भागवत के अनुसार बताये गये भक्ति के दोनों पक्षों का उल्लेख करेंगे । भागवत में साधन भक्ति के पाँच अंग माने गये हैं-

§1§ उपासक ।

§2§ उपास्य-भगवान और उसके स्वरूप की कल्पना जैसा भागवत में लिखा है-

"शैली दारूमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।

मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधास्मृता ।" §11-27-12§

इस वैधी भक्ति के सम्बन्ध में भगवान के पाँच प्रकार के अवतारों का वर्णन हुआ है-

§1§ अर्चावतार-जगन्नाथ, रामेश्वरम् आदि स्थायी विग्रह आदि शालिग्राम नर्मदेश्वर आदि ।

§11§विभवावतार-मत्स्य, कच्छप, परशुराम आदि अंशावतार ।

§111§व्यूहावतार-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध अथवा राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, जो परमात्मा, जीव, मन और अहंकार के प्रतिरूप हैं ।

§1 §परावतार-राम, कृष्ण आदि पूर्णावतार जो परमात्मा और सर्वान्तर्यामी होते हुये भी व्यक्तित्व विशिष्ट हैं ।

§ §अन्तर्यामी

§3§ पूजा द्रव्य - इसमें कलश, दीप, घण्टी आदि तथा पंचामृत वस्त्र यज्ञोपवीत, पुष्प, चन्दन, ताम्बूल आदि सम्मिलित है ।

§4§ पूजा विधि- §1§ मानसिक पूजा के लिए ध्यानादि ।

§11§ मूर्तिपूजा के लिए षोडश उपचार आह्वान, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, अक्षतादि, पुष्प, तुलसी आदि, धूप, दीप, नैवेद्य, जल आचमन, ताम्बूल, फल, नीराजना, परिक्रमा आदि ।

§5§ मन्त्र-जप- इस विधान में अनेक मन्त्रों की सृष्टि हुई है । आगे चलकर तन्त्र-ग्रन्थों में मन्त्र-जप में पंच तत्वों§गुरू, मन्त्र, तन, देव और ध्यान§ को बड़ा महत्त्व दिया गया ।

तृतीय स्कन्ध में कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को बताया कि भक्ति साधकों के भाव के अनुसार 4 प्रकार की हो जाती है-

¶1¶ सात्विकी-

पापों का क्षय करने के लिए और पूजन को कर्तव्य मान कर जो पूजन करता है वह सात्विक भक्त है।

¶2¶ राजसी-

विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेदभाव से पूजन करता है वह राजस भक्त है।

¶3¶ तामसी-

जो भेददर्शी क्रोधी पुरूष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है वह मेरा तामसिक भक्त है।

¶4¶ निर्गुण-

निष्काम भक्त दिये जाने पर भी मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते वे निर्गुण भक्त कहलाते हैं।[1]

इस प्रकार भक्त के भावों के अनुसार जो भक्ति का भेद दिखाया गया है इसमें से प्रथम तीन अर्थात सात्विक, राजसी, तामसी भक्ति को साधन या वैधी भक्ति के अन्तर्गत रखा जाता है और निर्गुण भक्ति को पराभक्ति या साध्य भक्ति के अन्तर्गत।

1- भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय 29 श्लोक- 7 से 14 ।

भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद जी ने विष्णु भगवान की भक्ति के नवभेद बताये हैं -

" श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं साख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।।"[1]

भक्ति के शास्त्रीय रूप का नाम नवधा भक्ति है । भगवान के प्रेम को पाने के लिए अथवा प्रेमाभक्ति को पाने के लिए नवधा भक्ति का आचरण आवश्यक है:-

" नवधा विधि ये सेइये सर्वकाल करि नेम ।
बिना पात्र ठहरै नहीं गऊवै पारौं प्रेम ।।"[2]

सामान्यतया यही भक्ति की जन्मदात्री समझी जाती है । नवधा भक्ति में भक्ति के नौ साधन माने गये हैं जैसा कि ऊपर उद्धृत भागवत के श्लोक से ही स्पष्ट है । अब उनका क्रमशः विवेचन करेंगे ।

§1§ श्रवण-

भगवान के नाम, गुण, रूप आदि के अलौकिक वर्णन के सुनने को श्रवण कहते हैं । यह श्रवण नाम और लीला दोनों का होता है । अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नाम-श्रवण सबसे बलवान समझा जाता है । भक्ति-सन्दर्भ में कहा गया है-" जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ही रूप उतरता है उसी प्रकार निर्मल

1- भागवत सप्तम स्कन्ध-पंचम अध्याय-श्लोक 23-24

2- सुधर्मबोधिनी- पृ0 68

चित्त अर्थात् भगवद् भिन्न विषयान्तर तथा आवेश शून्य चित्त में भगवान के रूप के उदय होने की योग्यता आ पाती है । रूप के उदय होने पर भगवान के वात्सल्यादि गुणों की अनुभूति उत्पन्न होती है । नाम, रूप एवं गुण सहित भगवान तथा उनके परिकर की स्फूर्ति होने पर हृदय में लीला स्फुरण की सम्यक् योग्यता आती है ।"[1]

श्रवण से चित्त के विकार धुलते हैं । भागवत में कहा गया है कि-

" पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।

पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।"[2]

महर्षि नारद ने भी प्रेमा भक्ति के साधनों के अन्तर्गत श्रवण कीर्तन के महत्त्व को स्वीकार किया है-

" लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण कीर्तनात् ।"[3]

चूँकि प्रेमा भक्ति साध्य है फलरूपा है इसीलिए नारद ने नवधा भक्ति को उसका साधन कहा है । भक्ति ही साधन है एवं भक्ति ही कैसे साध्य भी है इसका विवेचन क्रमशः आगे किया जायेगा ।

वैष्णव आचार्यों की भाँति महान सन्त कवियों की रचनाओं में भी नवधा भक्ति का पर्याप्त उदाहरण मिलता है । जैसे कबीर के निम्न पद को श्रवण के अन्तर्गत माना जा सकता है-

" थिति पाई मन थिर भया, सत गुर करी सहाइ ।

अनिन कथा तन आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ।।"[4]

1- भक्ति सन्दर्भ- पृ0 329

2- भागवत- 2-2-37

3- नारद भक्ति सूत्र-36

4- कबीर ग्रन्थावली- पृ0 14 दोहा 21

गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि-

" मच्चिता: मद्गत प्राणा: बोधयन्त: परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।" (गी0 10/9)

अर्थात् जो भक्तगण अपने मन-प्राण मुझे अर्पण करते हैं वे परस्पर मेरे विषय में वार्तालाप कर एक दूसरे को आपस में समझा कर परम सन्तोष तथा आनन्द प्राप्त करते हैं ।

तुलसी भी इस भागवतोक्त नवधा भक्ति को स्वीकार करते हुये लिखते हैं कि-

" सुनिय तहाँ हरि कथा सुहाई । नाना भाँति मुनिन जो गाई ।।"

इन सभी उदाहरणों से ये स्पष्ट होता है कि नवधा भक्ति में श्रवण का बहुत अधिक महत्त्व है । क्योंकि भक्ति सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले सभी आचार्यों, सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं महान कवियों ने इसे अवश्य स्वीकार किया है ।

कीर्तन-

भगवान के रूप, गुण एवं लीला का गायन ही कीर्तन है । कीर्तन का महत्त्व बताते हुये शुकदेव जी कहते हैं-

" कलेर्दोषनिधे राजन्नास्ति ह्येको महान्गुण: ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्ध परं ब्रजेत ।।"[1]

कीर्तन का सुख धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जप-तप आदि सब सुखों का अतिक्रमण कर जाता है-

" जो सुख होत गुपालहिं गाएं ।

सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव जल आवै ।"[2]

1- भागवत-12-3-51

2- सूर सागर-पद-349

चैतन्य महाप्रभु ने जिस समारोह के साथ वाद्ययन्त्रों की झंकार में कृष्ण-प्रेम की पुकार को निनादित किया वह दक्षिण पथ से होता हुआ उत्तरा पथ में फैल कर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर छा गया । ब्रज-मन्दिरों में अष्ट प्रहर सेवा के साथ कीर्तनियों की नियुक्ति वल्लभ सम्प्रदाय में विशेष उल्लेखनीय है ।

ब्रह्मानन्द से भजनान्द तो श्रेष्ठ माना ही गया है । कीर्तन से भक्त का मन एकान्त रूप से ईश्वर से जुड़ जाता है । वैसे भी नाद को ब्रह्म कहा गया है । कीर्तन ने एक प्रकार से सामूहिक प्रार्थना का रूप धारण किया ।

चैतन्य महाप्रभु में कीर्तन मानो साकार देह धारण कर आया था । वह कीर्तन करते-करते कभी नृत्य करने लगे कभी उच्च स्वर से रोदन और कभी भूमि पर लुंठित होने लगते थे-

" उद्दण्ड नित्ये प्रभुरअद्भुत विकार । अष्ट सात्त्विक भावोदय हयसमकाल।
कभु स्तम्भ कभु प्रभु भूमिते पड़य । शुष्क काष्ठ सम हस्त-पद ना चलय।।"[1]

एकमात्र संकीर्तन करते हुये भावभक्ति एवं प्रेमाभक्ति की सारी भूमिकाओं का अतिक्रमण करके वह उस महाभाव भूमि पर पहुँच जाते थे जिसकी साकारता श्रीराधा में पायी जाती है इसीलिए उन्हें राधा का अवतार तक कहा गया है ।

जब ईश्वर का नाम कीर्तन होता है तब श्री भगवान वहाँ आविर्भूत होते हैं और भक्तों को अपने प्रकाश या सान्निध्य का अनुभव कराते हैं-

" स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ।।"[2]

कबीरदास जी ने भी समझाया है कि स्वयं तो ईश्वर का नामोच्चारण करना ही चाहिए औरों को भी बिठाकर कीर्तन करना ही भक्त का कर्तव्य है-

" कबीर आपण राम कहि, औरा राम कहाइ ।"[3]

1- चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद-13, पृ0 184

2- नारद भक्ति सूत्र-80

3- कबीर ग्रन्थावली-पृ0 6, दोहा-14

स्मरण–

श्रवण और कीर्तन के बाद स्मरण का स्थान है। भक्ति सम्प्रदाय में स्मरण मुख्यतया हरि के नाम का ही होता है। नाम के अतिरिक्त भगवान के गुण तथा चरित आदि के माहात्म्य का स्मरण भी किया जाता है।

जीव भगवान का स्मरण करते-करते तद्रूप बनने लगता है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं कि– " जो पुरुष निरन्तर विषय चिन्तन करता है उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है वह मुझमें तल्लीन हो जाता है।"[1]

भगवान का निरन्तर स्मरण व्यक्ति को भगवान के समीप पहुँचाता है। क्योंकि निरन्तर स्मरण करते रहने से भगवान हमारे सामने साकार हो उठते हैं–

" अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥" (गीता, 8/14)

जो भक्त भगवान के स्मरण में निमग्न रहता है वह प्रभु का विस्मरण एक क्षण के लिए भी होने पर व्याकुल हो उठता है क्योंकि उसे ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य विषय का स्मरण उसे व्यर्थ प्रतीत होता है–

" नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।"[2]

भक्ति सन्दर्भ में स्मरण का क्रम इस प्रकार दिया गया है– नाम स्मरण, रूप स्मरण, गुण स्मरण। स्मरण पाँच प्रकार का होता है– स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति, समाधि।

(1) हरि के नाम रूपादि के अनुसन्धान का नाम स्मरण है।

(2) सारे विषयों से चित्त को खींचकर साधारण रूप से हरि के नामादि में चित्त को धारण कराने को धारणा कहते हैं।

1– भागवत– 11-14-27

2– नारद भक्ति सूत्र–19

॥ IIII ॥ विशेष रूप से नाम रूपादि के चिंतन का नाम ध्यान है ।

॥ I ॥ अमृत धार की भाँति अविच्छिन्न स्मरण का नाम ध्रुवानुस्मृति है ।

॥ ॥ ध्यातृ ध्यान शून्य होकर ध्येय के आकार में चित्तवृत्ति के अवस्थान को समाधि की संज्ञा दी जाती है ।

चित्त को अन्य विषयों से खींचकर ईश्वर का स्मरण करना पड़ता है । कबीरदास जी ने ऐसा ही कहा है-

" कबीर राम ध्याइ ले जिभ्या सौं करि मंत ।
हरि सागर जिनि बीसरे छीलर देखि अनन्त ॥"[1]

ईश्वर के नाम का स्मरण बड़े से बड़े पाप से छुड़ाता है-

" पापिहु जाकर नाम सुमिरहीं । अति अपार भवसागर तरहीं ॥[2]

तुलसीदास जी ने श्रवण, कीर्तन और स्मरण तीनों का महत्त्व एक ही पंक्ति में लिख दिया है-

" रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं । संतत सुनिय रामगुन ग्रामहिं ॥"[3]

पाद सेवन-

दैन्य सहित भगवान की सेवा मात्र को पाद सेवन कहा गया है । सेवा व्दारा अहंकार की कुटिल गतियों का इष्ट के चरणों में दण्डवत प्रणिपात कराना पाद सेवन है । भगवान का चरण सेवन भक्ति प्रदायक कहा गया है-

" मन रे परसि हरि के चरण ।
सुभग, सीतल, कंवल, कोमल त्रिविध ज्वाला हरन ॥"[4]

1- क0ग्र0-7,30

2- रा0च0मा0-कि0 32

3- रा0च0मा0-उ0 222

4- मीरा की पदावली, पद ।

ईश्वर की शरण में जाना ही पाद सेवन का वास्तविक अर्थ है । अपनी समस्त फल की इच्छाओं को ईश्वर के चरण कमलों में समर्पित कर देने से व्यक्ति निश्चिन्त होकर उनका भजन कर सकता है । प्रभु के चरण कमल व्यक्ति की सारी असमर्थताओं को सामर्थ्य में बदल देते हैं-

" चरण कमल बन्दौ हरि राइ ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कछु दरसाइ ।। "[1]

भागवत में भी ब्रह्मा जी भगवान से कहते हैं "हे देव । जो लोग आपके उभय चरण कमलों का लेश पाकर अनुगृहीत हुए हैं वे भक्त जन ही आपकी भक्ति के महत्त्व को जान सकते हैं । उनके सिवा अन्य कोई चिरकाल तक विचार करने पर भी आपके तत्त्व को नहीं जान सकता ।" (भागवत- 10/14/19)

ईश्वर के चरणों की सेवा का अर्थ है अपने अहंकार का त्याग करके ईश्वर के समक्ष नतमस्तक होना । अहंकार के त्याग के विषय में नारद ने भी कहा है-

" अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ।"[2]

अर्चन-

सामान्यतया मानव वाह्य मन में निवास करता है । इसलिए पूजा किंवा अर्चन का बाह्य विधान स्थिर किया गया है । किन्तु यही अर्चना अन्तश्चेतना में प्रवेश कर आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति बन जाती है । भक्ति का अर्थ है भगवान से युक्त होना जिसका प्रारम्भिक रूप भगवान की खोज है । यह रूप उनके किसी प्रकार के संस्पर्श, समीपता, स्वीकृति किंवा आत्मसमर्पण की आकांक्षा का होता है । अर्चन मन में इन्हीं भावनाओं को विकसित करता है ।

1- सूर सागर- विनय के पद-1

2- नारद भक्ति सूत्र-64

भागवत में कहा गया है-

" स्वर्ग, मोक्ष, पृथ्वी और रसातल की सम्पत्ति तथा समस्त योग सिद्धियों की प्राप्ति का मूल भगवान के चरणों का अर्चन है ।"[1]

वास्तविक अर्चन बाह्य पूजा से हटकर जब सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं जीवन को अपना उपकरण बना लेता है तब व्यक्ति ही भगवान का मन्दिर बन जाता है और उसके हृद-गुहा में स्थित अन्तर्यामी उसकी आराध्य-मूर्ति ।

वन्दन-

आराध्य के प्रति नमन ही वन्दन भक्ति है । बाह्य रूप में दण्डवत करने की अपेक्षा वन्दन तभी चरितार्थ होता है जब अहंकार-त्याग, समर्पण एवं आराधना की वृत्तियाँ जन्म लेती हैं । वन्दन का अर्थ है प्रभु की महिमा का अपने हृदय में उद्बोधन करना ।

" का सूं कहिये सुनि रामा, तेरा मरम न जाने कोइ ।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छाना होइ ।।"[2]

विनय भी वन्दना का एक अंग है जैसे-

" बीनती एक राम सुनि थोरी ।
अबकी बचाइ राखि पति मोरी ।।"[3]

वास्तव में वन्दन भक्ति में भगवान की विनय, अनुनय, स्त्रोत-पाठ, प्रार्थना आदि सम्मिलित है । भागवत की स्तुतियों में यह वन्दन भक्ति पूर्णरूपेण आती हैं । वास्तव में पाद सेवन, अर्चन और वन्दन भक्तियों के व्यापार परस्पर

1- भागवत- 10/81/19

2- कबीर ग्रन्थावली- पृ0 97 पद 30

3- कबीर ग्रन्थावली-पृ0 113, पद 78

सम्बद्ध है ।

दास्य-

जीव प्रभु का अंश होने के कारण स्वरूपत: उनका सेवक या दास है । दास्य से स्वरूप का बोध होता है । दास्य से दैन्य उत्पन्न होता है जो भक्ति का मूलाधार है । तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है कि बिना दास्य भाव के संसार से तारण नहीं हो सकता-

" सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।"[1]

मीरा ने भी कहा कि-

" मने चाकर राखो जी मने चाकर राखो जी ।
चाकर में दरसण पाउं, सुमिरण पाऊं खरची ।
भाव भगति जागीरी पाऊं, तीनों बातां सरसी ।।"[2]

श्रीमदभागवत में भक्तों के जितने चरित्र हैं वे सभी दास्य भक्ति के अंग कहे जा सकते हैं । यहाँ तक कि गोप गोपिकाओं में भी दास्य भक्ति का ही प्राधान्य है-

" अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ।।"[3]

यहाँ भागवतकार भगवान कृष्ण में अलौकिकता दिखाकर इस सख्य में भी दास्य का सन्निवेश कर देते हैं ।

1- रामचरित मानस-उत्तरकाण्ड-204

2- मीरा की पदावली-पद-154

3- भागवत-10/24/32

नारद ने इसी बात को अपने सूत्र में कहा है-

" न तत्रापि माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवादः ।।22।।"

अर्थात् गोपियों को भगवान के माहात्म्य ज्ञान का विस्मरण नहीं हुआ वे जानती थीं कृष्ण ही ब्रह्म हैं और वे लीला के लिए मनुष्य का देह धारण किये हैं-

" न खलु गोपिकानन्दनो भवान्, अखिल देहिनामन्तरात्मदृक ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।"[1]

सख्य-

दास्य में भगवान और भक्त के बीच जो एक संकोच तथा दूरी रहती है वह सख्य में तिरोहित होने लगती है । सख्य भक्ति भक्त के स्नेह एवं भगवान के प्रत्युत्तर का संगम है । इसमें भगवान भक्त के मार्गदर्शक बन जाते हैं । ज्ञान और चिन्तन व्दारा मुनि भी जिसके धाम को प्राप्त नहीं कर सके उस अवर्णनीय अदृश्य प्रभु को कबीर ने अपना दोस्त बना लिया-

" जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ।।" {पृ013, दोहा 12}

भक्तों की तरफ से नहीं लेकिन प्रभु की ओर से यह भाव "मानस" में भी प्रकट हुआ है-

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहं बेरे ।।
मम हित लागि जनम इन हारे । भरतहु ते मोंहि अधिक पियारे।।" {उ018

दास्य एवं सख्य भक्ति रस के प्रीति एवं प्रेयस् रस के स्थायी भाव के रूप में स्वीकृत हैं । नवधा भक्ति में उसका उल्लेख मात्र भाव की दृष्टि से भगवान के प्रति भक्त के मनोभाव के रूप में हुआ है ।

जो हृदय विकारों से विहीन, प्रपञ्च से पृथक और रागसे रहित हो चुका है वही प्रभु के सखाभाव को प्राप्त करता है । भक्ति साधना में यह सर्वोच्च

1- भागवत-10/31/4

कोटि की भाव स्थिति मानी गई है । वेद के शब्दों में-

"पवनानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः । सखित्वमावृणीमहे ।।" ऋ09,61,4

अर्थात् जीवात्मा जब प्रभु के सखाभाव को प्राप्त कर लेता है तो पवमान भगवान उसके पवित्र अन्तःकरण को अपनी आनन्द धाराओं से आर्द्र कर देते हैं ।

आत्मनिवेदन-

समर्पण के भाव को आत्मनिवेदन कहते हैं । आत्मनिवेदन अनुरागमूलक भक्ति का प्रथम चरण है । भक्त के सारे मनोराग और सारे सम्बन्ध भगवान को निवेदित हो जाते हैं । मीरा के समस्त क्रियाकलाप कृष्ण की इच्छा से परिचालित होता है-

" जो पहिरावै सोई पहिरूं, जो दे सोई खाऊं ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी, उन बिनि पल न रहाऊं ।
जहाँ बैठावैं तितहीं बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊं ।।" मीरा की पदा0, पद-17

ब्रजबुलि पदावली में उत्कट आत्मनिवेदन का रूप परकीया राधा में चित्रित किया गया है । कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न होते ही वह लोक-लाज तथा यौवन जीवन सब कुछ को तिलाञ्जलि देकर अपना समस्त व्यक्तित्व अपना सारा मनोराग कृष्ण को सौंप देने को आतुर हैं । एवं कृष्ण भी उन्हें स्वीकार करते हैं किन्तु मीरा एवं राधा का समर्पण आकर्षण-जन्य है विधिमार्ग का नहीं ।

वल्लभ सम्प्रदाय का दीक्षामन्त्र ही आत्मनिवेदन की भावना से ओत-प्रोत है-"श्रीकृष्णः शरणं मम ।"

चूँकि आत्मनिवेदन प्रेम भक्ति का अनिवार्य साधन है इसलिए प्रेम भक्ति के अनिवार्य अंगों के विवेचन के समय आत्मनिवेदन के षट् अंगों का भी

वर्णन किया जायेगा । ये अंग हैं ॥1॥ अनुकूल संकल्प ॥2॥ प्रतिकूलता का वर्जन ॥3॥ रक्षा में विश्वास ॥4॥ गोप्तृत्ववरण ॥5॥ आत्मनिक्षेप ॥6॥ कार्पण्य ।

आत्मनिवेदन में अपने दोषों का उद्घाटन और उन्हें हटाने के लिये प्रभु से विनय की जाती है ।

वैष्णव सम्प्रदाय आगे चलकर दो शाखाओं में बंट गया । ॥1॥ रामभक्ति ॥2॥ कृष्णभक्ति । जिसमें से रामभक्ति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य रामानुज है और शेष सभी आचार्य कृष्णभक्ति धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । अतः कृष्णभक्ति सम्प्रदाय में इस नवधा भक्ति के साथ-साथ अथवा इसके अनन्तर जो एक विशिष्ट पूजा प्रणाली का विधान है जिसे अष्ट प्रहर सेवा कहा जाता है उसका उल्लेख भी आवश्यक है । नवधा भक्ति के बाद ही सेवा का क्रम है लेकिन किसी-किसी व्यक्ति में स्वाभाविक अनुरक्ति सेवा में देखी जाती है । इसे उसका पूर्वार्जित संस्कार समझना चाहिए । जैसे मीराबाई में बाल्यकाल से ही गिरिधर गोपाल की पूजा में अनुरक्ति सुनी जाती है । मनुष्य की सामान्य चेतना में नवधा भक्ति के व्दारा बोये गये बीज को सेवा के व्दारा अंकुरित एवं पल्लवित करने की चेष्टा की जाती है ।

सेवा इष्टदेव के नाम एवं स्वरूप दोनों की होती है । प्रत्येक कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में थोड़ा बहुत अन्तर के साथ इस अष्ट प्रहर सेवा का विधान है । जैसे निम्बार्क सम्प्रदाय में ॥1॥ मङ्गला ॥2॥ श्रृंगार ॥3॥ वन विहार ॥4॥ राजभोग ॥5॥ उत्थान ॥6॥ संध्या ॥7॥ शयन ॥8॥ शैया का विधान है । इसी प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में भी ॥1॥ मङ्गला ॥2॥ श्रृंगार ॥3॥ ग्वाल ॥4॥ राजभोग ॥5॥ उत्थान ॥6॥ भोग ॥7॥ संध्या आरती ॥8॥ शयन इस प्रकार से थोड़ा बहुत अन्तर से सेवा की जाती है ।

इस सेवा के व्दारा ही प्रेमभक्ति का उदय होता है जिसका वर्णन साध्य भक्ति के अन्तर्गत किया जा रहा है ।

साध्यभक्ति, निर्गुणभक्ति, प्रेमभक्ति

जिससे चित्त सर्वतोभावेन निर्मल होता है एवं जो अतिशय ममता सम्पन्न है ऐसा जो भाव है, गाढ़ता प्राप्त हो । पर प्रेम कहलाता है-

" सम्यगमसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ।।"[1]

साधन भक्ति पालन करते-करते रति होती है और रति के गाढ़ होने पर उसे प्रेम कहा जाता है । पञ्चरात्र में भी कहा गया है-

" अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेम संगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ।।"

यह प्रेम दो प्रकार का होता है-

१।१ भावोत्थ-

भक्ति के अन्तरंग अंगों का निरन्तर सेवन करने पर भाव जब चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है तब उसे भावोत्थ प्रेम कहते हैं । यह भावोत्थ प्रेम भी दो प्रकार का होता है १।१ वैधी भक्ति सञ्जाता १2१ रागानुगीय । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है शास्त्र के जितने भी विधि निषेध है वे सभी वैधी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं और इसी वैधी भक्ति का पालन करते-करते अर्थात् प्रभु का स्मरण भजनादि करते-करते जब निष्काम प्रेम की उत्पत्ति होती है तो वह वैधी भक्ति सञ्जाता प्रेम है ।

और रागानुगीय भावोत्थ प्रेम कृष्ण में ब्रजवासियों के प्रेम को कहते हैं ।

१2१ अतिप्रसादोत्थ-

भगवान श्रीकृष्ण के स्तीय सङ्दान आदि को अतिप्रसादोत्थ प्रेम कहते हैं-

" हरेरतिप्रसादोत्थं सङ्गदानादिरात्मनः ।।[1]

1- पूर्व विभाग, चतुर्थ लहरी, श्लोक-6 भक्ति रसामृत सिन्धु

जैसा कि भागवत में श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है कि गोपियों ने उन्हें प्राप्त करने के लिए न वेदाध्ययन किया, न महत्तम व्यक्तियों का सत्संग, न व्रताचरण, न तपस्या । केवल मात्र श्रीकृष्ण के संसर्ग से ही गोपियों ने उन्हें प्राप्त कर लिया । भगवान का संग उनकी अत्यन्त प्रबल कृपा तथा अति प्रसाद का फल है ।

यह अतिप्रसादोत्थ प्रेम दो प्रकार का होता है-

(क) महात्म्यज्ञानयुक्त-

इसमें ऐश्वर्य भाव की प्रधानता न भी हो तब भी उसमें भगवान की महत्ता से अभिभूत होने की प्रवृत्ति रहती है । इस भाव से भक्त एवं भगवान के बीच अधिक निकटवर्ती सम्बन्ध स्थापित होने में बाधा पड़ती है ।

(ख) केवल अर्थात माधुर्यमात्र संवलित-

माधुर्य संवलित प्रेम अन्य बातों की अपेक्षा नहीं रखता है । वह स्वयं में पूर्ण है । श्रीकृष्ण में मन की जो परिलुप्त एवं अभिसन्धि शून्य निरवाच्छिन्न गति है उसे "केवल" भक्ति कहते हैं और यह भक्ति ईश्वर को वश में करने वाली होती है । ब्रज देवियों में ही इस प्रकार की "केवल" भक्ति देखी जाती है ।

इस प्रकार से प्रेम लक्षणा भक्ति में प्रेम प्रवण भक्ति के सभी भावों को स्वीकार किया गया है ।

" भक्ति के अनिवार्य साधन "

भक्ति ऐसा भाव नहीं है जो सहज ही सबको प्राप्त हो सके । भक्ति साधन भी है और भक्ति ही साध्य है । नवधा भक्ति को हम साधन भक्ति के अन्तर्गत रखते हैं । इसके उपरान्त प्रेम भक्ति का स्थान है जो सहज ही सबको प्राप्य नहीं है । कुछ आचार्यों ने तो भक्ति की परिभाषा में प्रेम को ही भक्ति

कहा है जैसे नारद ने कहा है कि "स त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ।"

वैसे तो साधन भक्ति या नवधा भक्ति से ही प्रेमरूपा साध्य भक्ति को प्राप्त किया जा सकता है परन्तु भक्ति के प्रमुख साधनों के रूप में शास्त्रों में जिन अनिवार्य भावों का विश्लेषण है उसका विवेचन भी पृथक रूप से आवश्यक है । निम्न प्रकार से इसके अनिवार्य साधनों को हम देख सकते हैं:-

§1§ भगवत्कृपा किंवा अनुग्रह-

भक्ति मार्ग का मूल मन्त्र है श्रीकृष्ण की कृपा या अनुग्रह । वल्लभाचार्य जी ने तो अपने सम्प्रदाय का नामकरण ही पुष्टि मार्ग अथवा अनुग्रह मार्ग किया है । पुष्टि का अर्थ है दुर्बल, षडैश्वर्य विहीन जीव का श्रीकृष्ण के अनुग्रह द्वारा पोषित होना । अनुग्रह का अर्थ है भगवान के द्वारा भक्त का हाथ पकड़ना उसे ग्रहण किया जाना । अनुग्रह और कृपा समानार्थी हैं ।

भगवान की कृपा अहेतुकी होती है । अज्ञान ग्रस्त जीव के लिए यह उनका प्रसाद है । जो भगवान से युक्त होने की प्रक्रिया§भक्ति§ का सर्वोपरि साधन है ।

देवर्षि नारद ने प्रेमभक्ति के साधनों के वर्णन के समय कहा है:-

" मुख्यस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा ।।" 38 ।।

अर्थात् मुख्यत: महापुरूष की कृपा से ही अथवा भगवान की कृपा का कण मात्र पाने पर भी भक्ति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान की कृपा का लेश मात्र जब प्रेमभक्ति की प्राप्ति करा सकता है तो भगवान का अनुग्रह तो साक्षात् मोक्ष का द्वार है ।

श्रीकृष्ण की कृपा का महत्स्त्रोत जीव के क्षीण दुर्बल रूप को सशक्त बनाकर उसकी मलिनता धोकर उसे भगवत्प्रेम के योग्य बनाता है । अनुग्रह भगवान का पराक्रम है-

" यह पुष्टि भगवान का धर्म है । अनुग्रह रूप भगवद्धर्म से काल, कर्म और स्वभाव का भी बाध हो जाता है अनुग्रह भगवान श्रीकृष्ण का पराक्रम है अतएव उनका ही धर्म है जैसे सूर्य का प्रकाश ।"[1]

भगवान जीव के उद्धार के लिए उसकी योग्यता और अयोग्यता पर विचार नहीं करते । सूरदास के शब्दों में-

" राम भक्त वत्सल निज बानौ ।

जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहि रङ्क होइ कै रानौ ।"[2]

" जहाँ भगवान जीव का वरण करने में उसकी योग्यता नहीं देखते प्रत्युत अपने में समर्पण भाव देखते हैं, जहाँ भगवान जीव की शक्ति पर मुग्ध न होकर उसकी अनुरक्ति पर मोहित होते हैं वही पुष्टि मार्ग है"[3]

भगवान का अनुग्रह बिल्ली की भाँति है । उनकी कृपा शक्ति भक्त को इस प्रकार पकड़े रखती है जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को । इस कृपा से जीव की कोई कोटि वंचित नहीं रहती ।

गुरू-आश्रय-

गुरू का आश्रय साधना मार्ग में अनिवार्य है । गुरू इष्टदेव का प्रतिनिधि किंवा दूत है । भक्त और भगवान का भाव-सूत्र जोड़ने का अनिवार्य साधन है । भगवान श्रीकृष्ण से तादात्म्य प्राप्त सिद्ध भक्त का आश्रय लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो उठता है । नारद ने भी कहा है-

"तस्मिस्तज्जने भेदाभावात् ।"[4]

अर्थात् भक्त और भगवान में भेद नहीं है । इसलिए भक्त की कृपा

1- अनुग्रह मार्ग (देवर्षि रमानाथ शास्त्री) पृ0 4-5

2- सूरसागर-विनय पद सं-11

3- नारद भक्ति सूत्र-41

4- श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त-भट्ट श्री ब्रजनाथ शर्मा-पृ0 69-70

प्राप्त होने पर भगवान की कृपा प्राप्त होती है । भागवत में भी कहा गया है कि:-

" साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।" भागवत 9/4/68

अर्थात् भगवान कहते हैं कि मेरा प्रेमी भक्त मेरा हृदय है और मैं साधु भक्त का हृदय हूँ । मेरे अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते और मैं भी उन सब के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता ।

धर्म कर्म वैराग्य आदि सभी साधनों में भटक कर भी सूर जब अशान्त रहे सब साधकर भी जब कुछ न साध पाये तब गुरू वल्लभाचार्य जी के आश्रय में उनके अन्तर का कमल स्वतः विकसित हो उठा । यह सामर्थ्य गुरू में ही है कि वह व्यक्ति को सामान्य सांसारिक प्राणी से भगवान का भक्त बना देते हैं । जैसा कि सूरसागर में सूरदास जी ने स्वयं कहा है-

" गुरू बिन ऐसी कौन करै ? माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै भवसागर तै बूड़त राखै दीपक हाथ धरै । सूरस्याम गुरू ऐसो समरथ छिन मैं लै उधरै ।"[1]

भक्ति मार्ग में भगवान के साथ ही गुरू के प्रति भी समर्पण अपेक्षित है । यह समर्पण मानव का अपनी ही दिव्यता के प्रति होता है । गुरू के प्रति समर्पण न केवल अन्तरात्मा को जागृत करता है वरन् मनुष्य की बुहिर्तम चेतना में जहाँ अहं का एकमात्र साम्राज्य है वहाँ भी भागवत चेतना को स्थापित करता है ।

शास्त्रों में गुरू के अनेक लक्षण बताये गये हैं-

" अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः ।
इत्यादि लक्षणैर्युक्तो गुरूः स्याद्गरिमानिधिः ।।"[2]

1- सूरसागर, पद सं0-417

2- हरिभक्ति विलास, प्रथम विभाग- प्रथम विलास 32, 33

संक्षेप में गरिमा की विधि गुरु को शुद्ध, श्रद्धावान, शुचि, क्रोध रहित, धीमान् शिष्यवत्सल, निग्रही इत्यादि होना चाहिए तथा उसमें शास्त्र ज्ञान एवं विमर्श द्वारा ऊहापोह आदि को सुलझा सकने की योग्यता भी होनी चाहिए ।

आत्म-समर्पण-

प्रेम में दो तत्त्व समान रूप से विद्यमान रहते हैं ॥1॥ आकर्षण ॥2॥ समर्पण ।

भगवान के प्रति आकर्षण विकारों के प्रक्षालन पर ही उत्पन्न हो पाता है यह प्रक्षालन उनके प्रति समर्पण से साधित होता है ।

सम्पर्ण में तामसिकता बड़ी बाधक होती है । समर्पण का अर्थ निश्चेष्टता या अकर्मण्यता नहीं है । समर्पण मनोवृत्तियों का दिशा-परिवर्तन है । निम्न से उर्ध्व में आरोहरण है अतएव भक्त में दैन्य के साथ ही समर्पण का संकल्प भी अपेक्षित है ।

आत्म समर्पण का प्रमुख अंग शरणागति है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि-

" सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज, अहंत्वां
सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।"

शरणागति को प्रपत्ति भी कहा जाता है । भट्ट रमानाथ शास्त्री के शब्दों में " प्रपत्ति का रूढ़ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप । प्र प्रकर्षेण एकदम, पत्ति: पदनं भगवान में चले जाना आत्मन: अपने आपका भगवान में निक्षेप नितराक्षेप: एक दम डाल देना दोनों बात एक ही है ।

प्रपत्ति तीन प्रकार की होती है ॥1॥ भगवत्कृत भक्त का स्वीकार ॥2॥ भक्तकृत भगवान का स्वीकार एवं ॥3॥ मित्र । प्रथम की उदाहरण हैं

शरणागति के छः अंग हैं-

§1§ अनुकूल- संकल्प-

भगवान की इच्छा के अनुरूप चलने का संकल्प अनुकूलता का संकल्प है । पूर्ण समर्पण की यह आवश्यक शर्त है । समर्पण में भगवान की अनुकूलता देखी जाती है अहँ की नही ।

§2§ प्रतिकूलता का वर्जन-

व्यक्ति के भगवद् विरोधी अंशों वस्तुओं, विचारों, भावनाओं का परित्याग होना चाहिए । जीवन की विकृतियों एवं सत्य की अनुकृतियों का वर्णन सत्य के प्रकटीकरण के लिए आवश्यक है ।

§3§ रक्षा में विश्वास-

मनुष्य का संशयग्रस्त मन भगवान की कृपालुता के प्रति भी संदिग्ध हो जाता है इसलिए उसे यह दृढ़ विश्वास करना पड़ता है कि भगवान उसकी हर परिस्थिति में रक्षा करेंगे । जैसा सूरदास जी ने कहा भी है-

" सरन गये को को न उबारयौ ।
जब-जब भीर पड़ी संतनि कौ, चक्र सुदरसन तहाँ संभारयौ ।।
सूर स्याम बिनु और करैको, रंग-भूमि मै कंस पछारयौ ।।।4।।

§5§ गोप्तृत्व-वरण-

भगवान में अनेक गुप्त शक्तियाँ हैं । वे सतत् भक्त की रक्षा के लिए उद्योगशील रहती हैं । प्रकट रूप में उनकी कृपा जितनी अनुभवगम्य हो पाती है उससे कहीं अधिक अप्रकट रूप में वह क्रियाशील रहती है यही उनका गोप्तृत्व वरण है ।

§6§ आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य-

भक्त जैसा भी है भला बुरा अपने को भगवान के हाथों सौंप देता है

यही आत्मनिक्षेप है । सब कुछ छोड़कर एकमात्र भगवान की शरण में जाना कार्पण्य है । भक्त का यह मनोभाव भगवान की शरण में जाने का दृढ़ संकेत है:-

" जौ हम भले बुरे तौ तेरे ।
सब तजि तुझ शरणागति आयो दृढ़ करि चरण गहेरे ।"[1]

नाम

यों तो मध्ययुग के निर्गुण-सगुण सभी भक्ति सम्प्रदायों में नाम का महत्त्व है किन्तु इसे जैसी मधुरता कीर्तन के रूप में चैतन्य सम्प्रदाय में प्रदान की गई उससे नाम साधना में विशेष भाव प्रवणता का संचार हुआ ।

नाम दो प्रकार का होता है ﴾1﴿ स्वरूप नाम ﴾2﴿ लक्षण द्योतक नाम प्रथम से इष्टदेव का स्वरूप प्रकाशित होता है और दूसरे से उनका स्वभाव । जैसे कृष्ण राम भगवान के स्वरूपगत नाम हैं एवं कंसारि, यशोदा नन्दन आदि कृष्ण के लक्षणगत नाम हैं ।

मीराबाई के पदों में नाम के प्रभावों पर विश्वास प्रकट किया गया है-

" मेरो मन रामहि राम रटै रे ।
राम नाम जप लीजे प्राणी कोटिक पाप कटै रे ।"[2]

नाम स्मरण के लिए भक्त का अमानी, विनम्र तथा सहिष्णु होना परमावश्यक है । चित्त की कोमलतम वृत्तियों में ही कृष्ण का आविर्भाव होता है अतएव चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि-

" तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ।"[3]

1- सूरसागर - विनयपद 160।
2- मीराबाई की पदावली पद 200।
3-

सत्सङ•-

जिन व्यक्तियों ने भक्ति मार्ग में प्रवेश पा लिया है और जो माया के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं उन व्यक्तियों का सङ• नये साधक की साधना में सहायक होता है । सत्सङ• भगवान की स्फूर्ति जागृत करता है इसी से साधना में इसका अमूल्य महत्त्व है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने सत्सङ• के विषय में कहा है-

" तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ।।"[1]

साधु की संगति से कुमति नष्ट हो जाती है और भक्ति का आविर्भाव होने लगता है-

" गई कुमतिलई साधु की संगति, भगत रूप भई साँची ।
गाय गाय हरि के गुन निसदिन काल ब्याल भई साँची ।।"[2]

भागवत महापुराण में भी सत्सङ• की महिमा यथास्थान गाई गई है:-

" भागवत संगी प्रेमियों के निमेष मात्र की तुलना स्वर्गादि की तो बात ही क्या पुनर्जन्म का नाश करने वाली मुक्ति के साथ भी नहीं की जा सकती । फिर मर्त्यलोक के राज्यादि सम्पत्ति की तो बात ही क्या ।"[3]

लेकिन सत्सङ• की प्राप्ति कोई सहज बात नहीं है । भगवान की कृपा होते ही साधुसङ• का लाभ हो जाता है जैसा कि महर्षि नारद ने अपने सूत्रों में कहा है:-

" लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ।।40।।"

अर्थात् सत्सङ• का लाभ बिना ईश्वर की कृपा के नहीं मिलता है । गुरू के माध्यम से ही ईश्वर कृपा करते हैं ।

1- रामचरित मानस

2- मीराबाई की पदावली-26

3- भागवत- 1.18.13

इस प्रकार से हम देखते हैं कि उपरोक्त अनिवार्य साधनों की सम्यक् प्राप्ति हो जाने पर भगवान से प्रीति होती है और प्रीतिपूर्वक भगवान की सेवा करना ही वास्तव में भक्ति है । प्रेमभक्ति ही साधन भक्ति का फल है । क्योंकि इसके प्राप्त होते ही साक्षात् मोक्ष का व्दार खुल जाता है जो भक्त एक बार भगवान से प्रेम का नाता जोड़ लेता है उसे फिर अन्य सांसारिक विषयों में उतना आकर्षण होना असंभव है । मनुष्य का चित्त बिना किसी विषय के आकार में आकारित हुये नहीं रह सकता है । ईश्वर ही जिस चित्त के विषय हो उस चित्त का महत्त्व तो स्वयमेव बहुत ज्यादा है क्योंकि वह आत्मा को साक्षात् ब्रह्म के दर्शन कराता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों की सहायता से इसी विषय पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है कि अपने सभी सहायक अंगों सहित भक्ति किस प्रकार अपने परिपक्वावस्था में आकार भक्त का कल्याण करती है ।

भक्ति की महिमा-

भक्ति की महिमा तो भक्ति के अन्य पथों से सुगमतर होने से स्वयमेव सिद्ध हो जाती है ।

भक्ति का विकास-

भक्ति भावना का विकास देखने के लिए हमें आदिकाल के वैदिक वाङ्मयों से लेकर आधुनिक आचार्यों एवं कवियों तक के साहित्यों का न्यूनाधिक विश्लेषण करना पड़ेगा । हम देखेंगे कि किस प्रकार भक्ति पहले वैदिक ऋचाओं में बीज रूप मे दिखायी पड़ती है । फिर बाद में देवर्षि नारद एवं शांडिल्य के सूत्रों में तथा भागवत पुराण आदि में उसका विस्तार दृष्टिगोचर होता है । बाद में पुनः रामानुज ने उसका शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया लेकिन मध्व एवं वल्लभ ने शुद्ध प्रेम भक्ति को अधिक महत्त्व दिया । संक्षेप में हम एक-एक समय में

भक्ति के क्रमशः विकसित होते हुये स्वरूप पर विचार करने का प्रयास करेंगे ।

वैदिक मन्त्रों में भक्ति का स्वरूप :-

वैदिक साहित्य को भारतीय वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ माना गया है । वेदों में भक्ति का उपासनात्मक स्वरूप प्रचलित था । प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए आर्यगण मन्त्रों के द्वारा उनकी प्रशंसा या स्तुति करते थे । इस तरह से हम देखते हैं कि वेदों में भक्ति का स्तुत्यात्मक या उपासनात्मक स्वरूप ही प्राप्त होता है । ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में ईश्वर के गुणों का पर्याप्त वर्णन मिलता है:-

" त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । ॥ऋ0 1/97/6॥"

अर्थात् वह विश्वतोमुख है और सब में समाया हुआ है । इस प्रकार के की स्तुतियाँ ये स्पष्ट करती है वैदिक काल में भक्ति का स्तुतिपरक स्वरूप पर्याप्त रूप में विकसित था । नवधा भक्ति में जो गुण कीर्तन को भक्ति का एक सोपान बताया गया है वह वैदिक मन्त्रों की स्तुतियों में परिलक्षित होता है । इसीलिए हम ये कह भी सकते हैं कि:-

" भक्ति के विकासक्रम के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यों में भक्ति भाव के मूल बीज विद्यमान थे और आंशिक रूप से भक्ति के विविध रूपों का आभास उन्हें वैदिक काल में ही मिल गया था ।"

- राधावल्लभ सम्प्रदाय- विजयेन्द्र स्नातक

ईश्वर के गुणों का विचार करते-करते जब जीव को अपनी अल्पज्ञता का ज्ञान होने लगता है तब वह अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर से प्रार्थना करता है । वह कहता है कि-

कल्याणकारी हैं । देव हमारी अभीष्ट सिद्धि एवं पूर्ण तृप्ति के लिए कल्याणकारी बनो । हमारे ऊपर चारों अस ओर से सुख और शान्ति की वर्षा करो ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्तुति के बाद प्रार्थना के रूप में भक्ति हमें वैदिक काल में दिखाई पड़ती है । संक्षेप में हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नवधा भक्ति के समस्त भेद यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते फिर भी कुछ अंग अवश्य ही स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं और साध्य भक्ति अर्थात् प्रेम भक्ति को हम वैदिक ऋचाओं में सम्बन्धात्मक रूप में देख सकते हैं जहाँ ईश्वर से माता-पिता मित्र सखा का सम्बन्ध जोड़कर भक्तगण अपने प्रेम को प्रदर्शित करते हैं:-

" त्वं हि नो पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अथा ते सुन्नमीमहे ।। {ऋ0 8/98/11}

इसी से कहा गया है कि-

" जिसे भक्ति का मूल कहा गया है वैदिक ऋचाओं में वहप्रेम परिपूर्ण है ।"

-वैष्णव धर्म का विकास एवं विस्तार-कृष्णदत्त भारद्वाज कल्याणवर्ष 16अंक 4

ब्राह्मण-ग्रन्थ-

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों के विधान का वर्णन है । ब्राह्मण ग्रन्थ वास्तव में वेदों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हैं । इसमें से एतरेय ब्राह्मण में ओंकार के जप का जो विधान किया गया है उसमें उसी प्रकार ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है जिस प्रकार कि वेदों में वर्णित उपासना में ।

देवताओं को आहुति देने में भी मन को एकाग्र करके उसी देवता का ध्यान करना पड़ता है:-

" यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् ताम् ध्यायेत् ।" {1/8}

यदि सूक्ष्म रूप से हम खोजें तो ब्राह्मण ग्रन्थों ने कर्मकाण्ड का विकास किया । इनमें भक्ति विषयक सामग्री बहुत ही अल्प मात्रा में एवं अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है ।

ऐतरेय के बाद शतपथ ब्राह्मण में भक्ति के कुछ अंगों का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है जैसे भक्ति का प्राण तत्त्व प्रेम है तथा प्रेम के लिए प्रिय के प्रति श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए । इसका उदाहरण हम शतपथ ब्राह्मण में देख सकते हैं:-

" अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह ।" §2-3-2-34§

अर्थात् यह देवों का प्रेम भाजनत्व कैसे प्राप्त होगा ?

इसी प्रकार दिव्यता और पवित्रता की ओर प्रयाण करना, ओऽम् तथा मन्त्रों का जाप करना आत्म तत्त्व को प्राप्त करना आदि ऐसे साधन हैं जो भक्ति के अंगों कहे जा सकते हैं ।

इसी तरह से सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण और अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में ओंकार के जप आदि को महत्त्व दिया गया है । इस प्रकार से हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति तत्त्व का पूर्ण विकसित शास्त्रीय स्वरूप नहीं प्राप्त होता है । केवल भक्ति के कुछ अंगों का ही उल्लेख है ।

उपनिषद् और भक्ति-

उपनिषदों में ज्ञान का विस्तार जितना प्रचुर मात्रा में हुआ है उतना भक्ति का नहीं । हालाँकि ब्राह्मणों की तुलना में यहाँ भक्ति तत्त्व स्पष्टतर है ।

उपनिषदों में भक्ति की विशेषता बताते हुये ऋषियों ने कहा है कि भक्ति सरस मार्ग है । क्योंकि इसमें जिस प्रभु की भक्ति की जाती है वो स्वयं रस रूप एवं आनन्द रूप है:-

" यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसं हि अयं लब्ध्वा आनन्दी भक्ति ।

-§तैत्तरीय उपनिषद्-7/2§

प्रभु निश्चित रूप से रस रूप हैं । भक्त इन्हीं रस रूप को पाकर आनन्दपूर्ण हो जाता है ।

उपनिषदों में भक्ति के साथ-साथ प्रपत्ति का स्वरूप भी देखने को मिलता है जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर रामानुजाचार्य जी ने किया है । प्रपत्ति में भक्त का कार्य केवल इतना ही है कि वह भगवान की शरण में आये:-

" यो ब्राह्मणं विदधति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तमहं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।। "[1]

उपनिषदों में ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जिनके बल पर बाद में वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्त जैसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि बने ।

गीता और भागवत आदि भी वस्तुत: अपने सिद्धान्तों को उपनिषदों के आधार पर ही प्रतिपादित करते हैं ।

कहने का तात्पर्य ये है कि वेद और ब्राह्मणों के बाद उपनिषदों ने भक्ति मार्ग को एक धुंधली सी दिशा दी ।

गीता और भक्ति-

वैसे तो गीता में कर्म ज्ञान और भक्ति इन तीनों का समन्वय है । लेकिन अंत मे भगवान ने भक्ति को अन्य दोनों उपायों से अधिक श्रेयस्कर माना है:-

" समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय: ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।29।।अ.9

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान हूँ न कोई मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है । परन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष हूँ ।

1- श्वेताश्वतर उप0-6, 18

इस प्रकार भगवान भक्त के लिए संदेश देते हैं कि भक्ति साक्षात् रूप से ईश्वर फल दात्री है ।

भागवत में वर्णित नवधा भक्ति के अधिकतर अंगों का वर्णन भी गीता में मिलता है । जैसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि के पर्याप्त उदाहरण हमें गीता में प्राप्त होते हैं:-

" प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम् ।। "[1]

गीता में अवतारवाद, ब्रह्म के निर्गुण सगुण रूप, भक्ति के प्रकार, भक्तों के लक्षण, भक्ति साधना पद्धति आदि भक्ति तत्त्व के सभी पक्षों का सीधा स्पष्ट विश्लेषण किया गया है ।

अवतारवाद और पुराणों की भक्ति-

भक्ति का अर्थ है विशिष्ट कोटि का राग और उसके लिए अव्यक्त ईश्वर के व्यक्त स्वरूप की कल्पना अनिवार्य थी । अवतारवाद व्दारा इसी अनिवार्यता की पूर्ति होती है ।

अवतारों का विवेचन करने वाले पुराण भक्ति के बीज को पल्लवित करते हैं । विष्णु पुराण को तो महाभारत की अपेक्षा भी वैष्णव धर्म का शुद्धतर प्रतिनिधित्व करने वाला कहा गया है । चैतन्य का गौड़ीय मत, वल्लभ का पुष्टि मार्ग तथा हितहरिवंश का राधावल्लभी मत ये सभी मुख्यत: भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराणों में प्रतिपादित भक्ति पद्धति और राधाकृष्ण के स्वरूप को लेकर अग्रसर हुये हैं ।

भागवत पुराण तो वस्तुत: भक्ति प्रधान ग्रन्थ ही है । इसमें भक्ति के सभी पक्षों का सुन्दर विवेचन है जिसका उल्लेख आगे किया जा चुका है । इसी ग्रन्थ ने साधनरूपा नवधा भक्ति के समस्त अंगों का उदाहरण सहित सुन्दर वर्णन किया है और बाद में साध्यरूपा या फलरूपा प्रेम भक्ति को ही मोक्ष स्वर्गादि

1- गीता अध्याय 8, श्लोक 10

से भी श्रेष्ठ कहा । भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में इसी भाव को भगवान ने उद्धव से कहा है:-

"जिसने मुझे अपने को सौंप दिया है वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का । उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न वह रसातल का ही स्वामी होना चाहता है । वह योग की सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता ।"

पांचरात्र-

पाञ्चरात्र का सबसे पहला प्रतिपादन महाभारत के शान्तिपर्व में हुआ है । फिर इसकी व्याख्या अनेक पाञ्चरात्र ग्रन्थों में अनेक प्रकार से की गई है । महाभारत में पाञ्चरात्र को नारायण के श्रीमुख से गाया हुआ कहा गया है । और चारों वेदों तथा सांख्य योग के समावेश के कारण पाञ्चरात्र नामकरण होना कहा गया है । नारद राञ्चरात्र के अनुसार रात्र का अर्थ है ज्ञान और परम तत्त्व मुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पांचों के निरूपण से इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र पड़ा ।

पाञ्चरात्र संहिताओं की मौलिकता है "चतुर्व्यूह सिद्धान्त" । इस मत में सगुण रूप वाले भगवान श्रीकृष्ण षाड्गुण्य विग्रह वाले हैं । इन षड्गुणों में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है । शेष शक्ति आदि पाँच गुण हैं जो कि ज्ञान से ही सम्बद्ध हैं । इन छः गुणों में दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है ।

(1) ज्ञान और बल की प्रधानता से संकर्षण

(2) ऐश्वर्य और वीर्य की प्रधानता से प्रद्युम्न

(3) शक्ति और तेज की प्रधानता से अनिरुद्ध

तथा वासुदेव को मिला कर इन्हें चतुर्व्यूह कहा जाता है । इस चतुर्व्यूह की उपासना ही भक्ति है ।

ईसा के लगभग तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक पा चरात्रि ने भक्ति आन्दोलन को गतिशील रखा । उस काल में पूजा विधियों पर बाह्य प्रभाव पड़े पर उनका आंतरिक स्वर भक्तिमूलक रहा ।

आलवार सन्त एवं वैष्णव भक्ति-

छठीं शताब्दी से पूर्व द्रविड़ देश में जैन और बौद्ध धर्मों की प्रमुखता थी । किन्तु छठीं शताब्दी के बाद वैष्णव भक्ति का उत्थान प्रारम्भ हुआ ।

तमिलनाडू में भक्ति का उत्थान आलवार सन्तों व्दारा हुआ जिन्होंने वैदिक भक्ति को सुधार कर उसका सरल रूप भक्तों के समक्ष प्रस्तुत किया । पद्मपुराण में भी भक्ति का जन्म द्रविड़ प्रदेश में ही बताया गया है:-

" उत्पन्ना द्रविड़े चाहं, कर्णाटके वृद्धिङ•ता ।
क्वचित्क्वाचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतांगता ।।"[1]

आलवार एक तमिल शब्द है जिसका अर्थ है "भगवत भक्ति में लीन व्यक्ति । पहले इस आलवार शब्द का अर्थ "आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न संत" माना जाता था । डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार तो "विष्णु" शब्द तमिल भाषा के "विन्" शब्द से बना है जिसका अर्थ आकाश है और विष्णु वह देवता है जिनका रंग आकाश की तरह नीला है ।[2] इस प्रकार दक्षिण भारत के आलवारों ने ही सर्वप्रथम आत्मानुभूति के रूप में वैष्णव धर्म के संवेदनात्मक पक्ष को मुखरित किया ।

सम्भवत: शास्त्रीय भक्ति निरूपण की प्रतिक्रिया में इन आलवारों ने अपनी आवाज उठाई और अपने हृदय के सच्चे उद्गारों से मानव मात्र को प्रभावित किया । ये भक्त विव्दान न होते हुये भी उच्चकोटि के साधक थे । इनके तमिल भाषा में रचे हुये बहुत संगीत है जिनका लिखित संकलन नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने किया था । आलवारों की रचना का यह संग्रह "दिव्यप्रबन्धम्" कहलाया

1- पद्मपुराण उत्तरखण्ड-50/5।

2- प्री हिस्टोरिक कल्चर, सुनीति कुमार चटर्जी, वैदिक एज पुस्तक में संगृहीत निबन्ध

जिसमें 400 गीत संगृहीत हैं । इनके गीत वेद ग्रन्थों के समकक्ष माने जाते हैं । प्रबन्धम् को तमिल वेद भी कहा जाता है ।

इन आलवार सन्तों में जो प्रमुख हैं उनकी एक सूची वेदान्तदेशिक ने तैयार की है जिसे सभी इतिहासकार प्रामाणिक मानते हैं । डॉ० भंडारकर ने भी इसी सूची को स्वीकार किया है ।[1]

तमिल नाम	संस्कृत नाम
1- मोयंग आलवार	सरोयोगिन्
2- भूतन्तालवार	भूतयोगिन्
3- पैआलवार	मध्योगिन् या भ्रांतियोगिन्
4- तिरुमलिसई	भक्तिसार
5- नम्न आलवार	शठकोप
6- मधुर कवि आलवार	मधुर कवि
7- कुलशेखर आलवार	कुलशेखर
8- पेरी आलवार	विष्णुचित्त
9- आंडाल आलवार	गोदा
10- तोंडर डिप्पोड़ो आलवार	भक्तांघ्रिरेणु
11- तिरुप्पन आलवार	योगिवाहन
12- तिरुमंगई आलवार	परकाल

पांचवीं से नवीं शताब्दी के मध्य ये 12 प्रमुख आलवार सन्त हुये । इनमें से शठकोप मधुर भाव के उपासक थे । आलवारों की मधुरोपासना प्रसिद्ध स्त्रीभक्त आन्दाल में अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी । पेरी आलवार जैसे वात्सल्य भाव के उपासक भी हैं । अर्थात् भक्ति के भाव पक्ष का वैविध्य यहाँ दिखायी

1- वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, आर०जी०भंडारकर, पृ० 56

पड़ता है और उसकी गहनता भी ।

इस प्रकार भक्ति के द्रविड़ में उत्पन्न होने की जो कथा है वह इन आलवारों की भावातिशययुक्त प्रेमा भक्ति के विषय में ही है । क्योंकि वेद, उपनिषदों, गीता में तो भक्ति के कुछ पक्ष स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं ।

चतु:सम्प्रदाय-

नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास भक्ति का आन्दोलन का इतिहास है । इस युग के आचार्य वैष्णव आचार्य कहलाये । समस्त वैष्णव सम्प्रदाय में परम आचार्य श्रीकृष्ण माने गये हैं । श्रीकृष्ण भगवान ने अपने चार शिष्यों को वैष्णव तत्व का उपदेश दिया था जिसका उल्लेख पद्मपुराण में इस प्रकार है:-

" श्री ब्रह्मरूद्र सनका वैष्णवा: क्षितिपावना: ।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरूषातमात् ।।"

प्रमेय रत्नावली में इन चारों सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है:-

" रामानुजं श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतुर्मुख: ।
श्री विष्णुस्वामिनं रूद्रो निम्बादित्यं चतु:सन: ।।"

इन वैष्णव आचार्यों ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रस्थानत्रयी ﴾उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता﴿ पर भाष्य प्रस्तुत किया । जिसका सूत्रपात शंकराचार्य भी कर चुके थे । इन वैष्णव आचार्यों ने भक्ति और कर्म का समन्वित रूप उपस्थित किया जबकि आलवार केवल भक्ति रस में लीन रहते थे और उसी को प्रधान मानते थे तथा शंकराचार्य भक्ति﴾उपासना﴿ को गौण मानते थे । इस तरह से इन चारों वैष्णव आचार्यों ने आलवारों और शंकराचार्य दोनों के मतों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया । "आलवारों में हृदय पक्ष की प्रबलता थी और

आचार्यों में बुद्धि पक्ष ।"[1]

इस प्रकार से रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने मिलकर भक्ति भावना को जन-मानस के लिए सुलभ बना दिया जिसका क्रमशः विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा । अतएव यहाँ विस्तार करने का औचित्य नहीं है ।

निष्कर्ष-

इस अध्याय का विवेचन करने से जो तथ्य प्रकट होते हैं वे इस प्रकार है ।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है । इसलिए वह अपनी सत्ता एवं संसार की स्थिति के विषय में निरन्तर चिन्तनशील है ।अनेक ग्रन्थों एवं विव्दानों से ज्ञान प्राप्त करके वह जन्म-मृत्यु रूपी बन्धन से छूटने के साधनों का अनुष्ठान प्रारम्भ करता है । क्योंकि प्रत्येक जीव का परम लक्ष्य मुक्ति ही है । अनेक विव्दानों एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रमुख रूप में मुक्ति के तीन ही साधन बताये गये हैं । §1§ ज्ञान §2§ कर्म §3§ भक्ति । वास्तव में कर्म ज्ञान एवं भक्ति तीनों परस्पर समन्वित रूप से ही अपने उद्देश्य की प्राप्त करा सकते हैं । आपेक्षिक रूप से किसी एक मार्ग पर अधिक बल देने से विभिन्न आचार्य उस मार्ग के समर्थक कहलाये । जैसे ज्ञान को प्रमुख मानने वाले आचार्य ज्ञानमार्गी तथा भक्ति के प्रवर्तक आचार्य भक्तिमार्गी के नाम से जाने जाते हैं ।

भक्ति की संधारणा जिस रूप में वैष्णव आचार्यों ने प्रस्तुत की है उसकी विवेचना ही इस शोध प्रबन्ध का विषय है । सबसे पहले भक्ति की शाब्दिक व्याख्या की गई है । भक्ति भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ "सेवा" है । यह सेवा तनुजा, वित्तजा, मानसी रूप से तीन प्रकार की बताई गई है । इस सेवा को ही कीर्तन, स्मरण, वन्दन रूपी नवधा भक्ति की संज्ञा दी गई है ।

1- मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सामाजिक विवेचन-डॉ० सुमन शर्मा, पृ०10

भक्ति रूपी भावना को वेदों से लेकर नवीनतम ग्रन्थों ने परिभाषित किया है । वेदों में भक्ति का सम्बन्धपरक स्वरूप भी परिलक्षित होता है । ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमुख रूप से कर्मकाण्ड प्रधान है फिर भी कहीं-कहीं भक्ति को परोक्ष रूप में देखा जा सकता है । नारद भक्ति सूत्र, शांडिल्य भक्ति सूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है । भागवतपुराण में प्रेम प्रधान भक्ति का स्वरूप उभरता है ।

भक्ति के भेद की व्याख्या सर्वप्रथम गीता में ही उपलब्ध होती है । नारद ने गौणी एवं प्रेम रूपी भक्ति के रूप में भक्ति के दो भेदों को स्वीकार किया है । इसे ही भागवत में साधन व साध्य भक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया है । साधन भक्ति को ही नवधा भक्ति कहा जाता है जिसमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन का समावेश है । साध्य भक्ति निर्गुण भक्ति या प्रेमा भक्ति के रूप में जानी जाती है । भगवत्कृपा, गुरू आश्रय, आत्मसमर्पण, नाम एवं सत्सङ्ग के बिना प्रेमाभक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । अतएव ये निर्गुण भक्ति के अनिवार्य साधन है ।

भक्ति के विकास की व्याख्या के साथ ही इस अध्याय की समाप्ति की गई है । वेदों से लेकर आधुनिक वैष्णव आचार्यों तक भक्ति का जिस प्रकार का स्वरूप विकसित होता गया उसे क्रमानुसार दर्शाया गया है ।

वेदों में भक्ति का स्तुत्यात्मक या उपासनात्मक स्वरूप ही प्रचलित था । वैदिक ऋचाओं में प्रेम भक्ति का सम्बन्धात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है ।

उपनिषदों में भक्ति के साथ-साथ प्रपत्ति के स्वरूप की भी विवेचना की गई है । गीता, पुराण एवं पाञ्चरात्र आगमों में भी भक्ति को अलग-अलग प्रकार से व्याख्यायित किया गया है । गीता में भक्ति साक्षात् रूप में फलदात्री

कही गई है । पुराणों में अवतारवाद का विकास हुआ । भागवतपुराण तो मूलत: भक्ति की व्याख्या ही है । इसके बाद आलवार सन्तों ने वैदिक भक्ति का सुधार कर उसे सरल रूप में भक्तों के समक्ष प्रस्तुत किया । इसके बाद नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास को भक्ति आन्दोलन का इतिहास माना जाता है । इस युग के आचार्य वैष्णव आचार्य कहलाये जिनके नाम क्रमश: इस प्रकार है:-रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी एवं निम्बार्क । अब परवर्ती अध्यायों में क्रमश: इन्हीं आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा की विवेचना की जायेगी ।

द्वितीय परिच्छेद

रामानुजाचार्य

" पन्द्रहवीं शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा" नामक प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में भक्ति की परिभाषा तथा उसके विकास आदि का सामान्य परिचय देने के पश्चात् आने वाले अध्यायों में क्रमशः चारों प्रमुख वैष्णव आचार्यों के व्दारा मान्य भक्ति के स्वरूप की समीक्षा की जायेगी । प्रस्तुत परिच्छेद में हम वैष्णव आचार्यों में सर्वप्रमुख श्री रामानुजाचार्य के भक्ति विषयक संधारणा पर विचार करेंगे ।

वैसे तो इस वैष्णव परंपरा में सबसे प्रमुख श्री रङ्नाथ मुनि है जो कि शठकोपाचार्य की शिष्य परंपरा में थे । इन्होंने प्राचीन तमिल ग्रंथों की रचना कर वैष्णव मत को भी सुदृढ़ किया । इन्हीं के समान एक अन्य विव्दान श्री यामुनाचार्य हुये जो कि रङ्नाथ मुनि के पौत्र थे । श्री यामुनाचार्य ने भी प्राचीन आलवार काव्यों के प्रचार, प्रसार तथा अध्यापन के अतिरिक्त कई नवीन ग्रन्थों की रचना की जैसे-गीतार्थ संग्रह, श्री चतुःश्लोकी, सिद्धित्रय, महापुरूष निर्णय, आगम-प्रामाण्य एवं स्तोत्ररत्नम् ।[1] इन्हीं की वंश परंपरा में इनके पौत्र श्री शैलपूर्ण हुये । श्री रामानुजाचार्य शैलपूर्ण के भगिनेय थे ।

जीवन-परिचय-

श्री रामानुज का जन्म 1017 ई0 में मद्रास के समीपस्थ, तेरुकुदूर नामक ग्राम में हुआ था । प्रसिद्धि है कि संसाराग्नि से दग्ध जीवों के उद्धार के लिए भगवान विष्णु की आज्ञा से भगवान शेष ने ही श्री रामानुजाचार्य के रूप में अवतार धारण किया था । इनके पिता का नाम श्री केशवभट्ट तथा माता का नाम कान्तिमती था । अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने काँची आकर अव्दैत वेदान्त के तत्कालीन अत्यन्त प्रसिद्ध विव्दान श्री यादव प्रकाश के शिष्यत्व में अपनी शिक्षा प्रारम्भ की । चूँकि अपने पारिवारिक परिवेश और मान्यताओं के कारण श्री रामानुज का वैष्णव धर्म की ओर सहज रूझान था

1- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त-बलदेव उपाध्याय पृ0 156

इसलिए वे अपने गुरु की शिक्षाओं से संतुष्ट न रह सके । और श्री यादवप्रकाश का शिष्यत्व त्याग कर स्वतन्त्र रूप से विद्यार्जन करने लगे । इन्हीं दिनों श्री यामुनाचार्य श्रीरङ्गं में वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य में लगे हुये थे । जब उन्होंने रामानुज की प्रशस्ति सुनी तो अपने एक शिष्य महापूर्ण स्वामी को रामानुज को काँची लिवा लाने के लिए भेजा । किन्तु श्री रामानुज के श्री रङ्गम् पहुँचने के पूर्व ही श्री यामुनाचार्य का स्वर्गवास हो गया । रामानुज ने देखा कि श्री यामुनाचार्य के हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई हैं और उस संकेत का इन्होंने यह अर्थ लिया कि गुरुदेव मेरे व्दारा ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्त्र-नाम पर भाष्य तथा आलवारों के दिव्यप्रबन्धम् की टीका लिखवाना चाहते थे । श्री रामानुजनेयामुनाचार्य के इन तीनों आदेशों का पालन किया । रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर स्वयं "श्रीभाष्य" नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की । विष्णुसहस्त्रनाम पर अपने पट्ट शिष्य "कूरेश" के व्दारा "भगवद्गुणदर्पण" नामक टीका लिखवायी तथा अपने मामा के पुत्र "कुरुकेश" के व्दारा नम्मालवार के "तिरुवायन्मौलि" पर तमिल भाष्य की रचना करवायी ।

शैव धर्म के कट्टर समर्थक श्री रङ्गम् के अधिकारी चोल नरेश कुलोतुङ्ग से हुये वैमनस्य के कारण इन्होंने 1096 ई0 में श्रीरङ्गम् का परित्याग कर दिया । और उस राजा की मृत्यु के उपरान्त ही 1118 ई0 में ये श्रीरङ्गम् वापस आ सके । यहाँ अनेक मन्दिरों का निर्माण करवा कर 1137 ई0 तक आचार्य पीठ पर विराजमान रहे । इन्होंने दक्षिण के विष्णु मन्दिरों में वैखानस आगम के व्दारा होने वाली उपासना को हटाकर पाञ्चरात्र आगम को प्रतिष्ठित किया । आचार्य रामानुज वैष्णव आचार्य परंपरा में सबसे दीर्घजीवी आचार्य रहे । और इन्होंने 120 वर्ष की आयु प्राप्त की । जीवन पर्यन्त वैष्णव धर्म की स्थापना

1- गोविन्दाचार्य की दि लाइफ ऑफ रामानुज तथा श्री ग्रेट आचार्याज बाइ नटेसन के आधार पर ।

और प्रचार-प्रसार के लिए अनवरत रूप से कार्य करते हुये संवत् 1137 ई0 में आपका स्वर्गवास हुआ ।

रचनाएँ-

श्री रामानुज ने लगभग 50 ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम निम्नलिखित हैं:-

(1) श्री भाष्य (2) विशिष्टाद्वैत भाष्य (3) वेदान्त संग्रह (4) वेदान्तसार (5) वेदान्तदीप (6) वेदार्थ संग्रह (7) गीता भाष्य (8) वेदान्ततत्त्वसार (9) श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य (10) मुण्डकोपनिषद् भाष्य (11) प्रश्नोपनिषद् भाष्य (12) ईशोपनिषद् भाष्य (13) विष्णुसहस्त्रनाम (14) न्याय परिशुद्धि (15) न्याय सिद्धान्जन (16) रत्नप्रदीप (17) पञ्चरात्ररक्षा (18) योगसूत्र भाष्य (19) मणिदर्पण (20) न्यायरत्नमाला (21) गुणरत्नकोष (22) मतिमानुष (23) देवतापारम्य (24) चक्रोल्लास (25) कूटसंदोह (26) वार्तामाला (27) शतदूषणी (28) गद्यत्रय (29) शरणागतिगद्य (30) वैकुण्ठगद्य (31) विष्णुविग्रह (32) संशनस्तोत्र (33) पञ्च पटल (34) अष्टादश रहस्य (35) कण्टकोद्धार (36) नित्यपद्धति (37) नित्याराधन विधि (38) नारायण मंत्रार्थ (39) संकल्पसूर्योदयटीका (40) सच्चरित्र रक्षा (41) राम पटल (42) राम पद्धति (43) रामपूजा पद्धति (44) राम रहस्य (45) रामार्चा पद्धति (46) रामायण व्याख्या (47) दिव्यसूरिप्रभाव दीपिका (48) सर्वार्थ सिद्धि (49) भगवदाराधन इत्यादि ।[1]

इस प्रभूत ग्रन्थ सम्पत्ति में से निम्नांकित छः ग्रन्थों पर रामानुजाचार्य के सिद्धान्त आधारित हैं ।

---

1. श्री भाष्य-प्रथम खण्ड, प्रस्तोता आचार्य श्री ललित कृष्ण गोस्वामी पृ0 -7 से उद्धृत ।

§1§ श्रीभाष्य-

ब्रह्मसूत्र का उत्कृष्ट पाण्डित्यपूर्ण भाष्य । इसमें रामानुज की प्रतिभा एवं विद्वता अपने पूर्ण रूप में विकसित दृष्टिगोचर होती है ।

§2§ वेदार्थ संग्रह-

यह शांकर मत तथा भेदाभेदवादी भास्कर मत का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ है ।

§3§ वेदान्तसार-

ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षरा टीका ।

§4§ वेदान्तदीप-

ब्रह्मसूत्र की ही कुछ विस्तृत व्याख्या ।

§5§ गद्यत्रय-

ईश्वर एवं प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ ।

§6§ गीता भाष्य-

गीता का श्री वैष्णव मतानुकूल भाष्य ।

आचार्य की भक्ति विषयक संधारणा की समीक्षा ही प्रस्तुत परिच्छेद में अभीष्ट है । अतः हम उनके सिद्धान्त की जटिलताओं में न उलझ कर मुख्य रूप से उनकी भक्ति विषयक मान्यताओं की ही चर्चा करेंगे । किन्तु भक्ति तत्त्व को समझने के लिए भक्ति के दो प्रमुख घटक तत्त्वों अर्थात् उपास्य और उपासक के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक होता है । अतः सर्वप्रथम हम संक्षेप में आचार्य के ईश्वर और जीव विषयक मान्यताओं पर विचार करेंगे ।

श्री रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त-

वैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य श्रीकृष्ण भगवान माने जाते हैं । इन्होंने इस वैष्णव तत्त्व का उपदेश श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनक को दिया ।[1] बाद में रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क ने क्रमशः इन चारों के सिद्धान्तों का प्रचार किया ।[2] क्रमानुसार रामानुज ने श्री सम्प्रदाय का ही प्रवर्तन किया । इसीलिए इनका सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है ।

आचार्य रामानुज के सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त कहा जाता है । श्री रामानुज ने तीन नित्य तत्वों की सत्ता स्वीकार की है:- ‖1‖ ईश्वर ‖2‖ चित् तथा ‖3‖ अचित् ।[3] ये तीनों पदार्थ क्रमशः नियामक, भोक्ता और भोग्य हैं । रामानुज ने ईश्वर को ब्रह्म, परब्रह्म, विष्णु,

---

1- "सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मता: अत: कलौ भविष्यति चत्वार: सम्प्रदायिन: ।।
श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवा: क्षितिपावना: । चत्वारस्ते कलौ भाव्या हयत्कले पुरुषोत्तमात् ।।"- पद्मपुराण

2- "रामानुज: श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतुर्मुख: ।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रौ निम्बादित्यं चतु:सन:।" -प्रमेयरत्नावली, पृ0 8

3- अत्रेदं तत्त्वम् अचिद् वस्तुन: चिद् वस्तुन: परस्य च ब्रह्मणो, भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन च स्वरूप विवेकमाहु: । श्री भाष्य, पृ0 20।
"ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरि: ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुन: ।।" इति सर्वद. सं. मध्वाचार्य पृ0 187

अन्तर्यामी इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया है । दर्शन शास्त्र में तीन प्रकार के भेद स्वीकार किये गये हैं ॥1॥ सजातीय ॥2॥ विजातीय ॥3॥ स्वगत । रामानुज ने ईश्वर के परमसत्ता के स्वरूप में स्वगत भेद को स्वीकार किया है यही रामानुज का शंकराचार्य से प्रमुख भेद है । रामानुज ने ईश्वरके स्वगत भेद के रूप में ही जीव तथा जगत की सत्ता को स्वीकार किया है । चिदचित् ईश्वर पर उसी प्रकार निर्भर है जैसे कि हस्तपादादि शरीर पर । चित् और अचित् भी वस्तुत: नित्य एवं परस्पर स्वतन्त्र पदार्थ हैं । लेकिन ईश्वर इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है इसीलिए चित और अचित् ईश्वर के अधीन हैं । जबकि ईश्वर स्वतन्त्र हैं । रामानुज त्रैत्व स्वीकार करते हैं । इन्होंने ईश्वर तथा चिदचित् के सम्बन्ध की व्याख्या चार प्रकार से की है:-

॥1॥ शरीरशरीरीभाव ॥2॥ प्रकारप्रकारीभाव ॥3॥ अंशांशिभाव
॥4॥ विशेषणविशेष्यभाव ।

शरीरशरीरीभाव-

चिदचित् ब्रह्म के शरीर स्वरूप है क्योंकि जिस प्रकार यह शरीर अपनी सत्ता और क्रिया के लिए आत्मा पर निर्भर है उसी प्रकार जीव जगत भी ब्रह्म के अधीन है । परमात्मा चित् और अचित् का संचालन और धारण उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार इस मानव शरीर का संचालन और धारण चिदात्मा करती है "अत: सर्वपरेण पुरूषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरं ।"[1] अनेक श्रुतियाँ भी चित्जडात्मक वस्तु के साथ ब्रह्म का शरीरशरीरीभाव रूप तादात्म्य ही बतलाती है:-
" अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानांसर्वात्मा" तथा " य: पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य: पृथिवी अन्तरो यमयति स त आत्मा न्तर्याम्यमृत: ।"

1- श्रीभाष्य

प्रकारप्रकारीभाव-

चिदचित् सारे ही पदार्थ उस परमपुरूष के शरीर होने से उसी के प्रकार है ।[1] यहाँ पर प्रकार से तात्पर्य है कार्य और प्रकारी का अर्थ कारण है । सत्स्वरूप चिदचित् सच्चिदानंद ब्रह्म के ही कार्य का प्रकार हो सकते हैं क्योंकि कार्य किसी भी अवस्था में कारण से भिन्न नहीं होता है । सतस्वरूप जीव तथा जगत त्रिकालाबाधित होने के कारण सृष्टि के पूर्व ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं यही ब्रह्म की कारणावस्था है और सृष्टि के क्षण भी ये चिदचित् स्थूल रूप से ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं इसी से यह ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है ।[2]

अंशांशिभाव-

अंशांशिभाव का तात्पर्य है कि ब्रह्म तथा जीव जगत में केवल परिणामात्मक भेद है तात्त्विक नहीं । क्योंकि ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्दादिगुण तथा उसके सभी धर्म चेतन तथा जड़ जगत में सीमित मात्रा में ही सही विद्यमान अवश्य रहते हैं जिस प्रकार की अग्नि के दाहकता इत्यादि गुण स्फुलिङ्ग में भी

1- " एवं सर्वावस्थावास्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः । परम-पुरूष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इति ।"

2- " अतः स्थूल सूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यकारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत । सूक्ष्मचिदचिद वस्तु शरीरकं ब्रह्मैव कारणमिति ।"- श्रीभाष्य

अवश्य रहते हैं भिन्नता केवल परिमाण की है । जीव को ब्रह्म के अंशरूप में ही श्रुति व स्मृति में उल्लिखित किया गया है:-

" पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" तथा

" ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।"

विशेषणविशेष्यभाव-

विशेषणविशेष्यभाव शरीरशरीरीभाव का ही प्रतिफलन है । मनुष्य आदि जाति शुक्लता आदि गुण जैसे विशेषण हैं वैसे ही सारे चिदचित् पदार्थ शरीर रूप से परम् आत्मा के विशेषण ही है । ईश्वर प्रधान है तथा जीव जगत् अप्रधान हैं । प्रधान होने के कारण ईश्वर विशेष्य और अप्रधान होने के कारण जीव-जगत ब्रह्म के विशेषण कहलाते है ।[1] क्योंकि प्रधान ही सर्वदा विशेष्य बनता है । रामानुज जीव जगत रूप विशेषणों से युक्त ईश्वर (विशेष्य) की एकमात्र अद्वैय सत्ता को स्वीकार करते हैं इसी वैलक्षण्य के कारण इनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है ।

ब्रह्म का स्वरूप-

रामानुजाचार्य ब्रह्म को सविशेष, सगुण तथा साकार मानते हैं । ब्रह्म की निर्गुणता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का तात्पर्य केवल इतना है कि ब्रह्म समस्त प्राकृत गुणों से रहित है इसलिए उसे निर्गुण, निरंजन, निष्फल, अपहतपाप्मा एवं विजर कहा गया है ।[2]

1- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त-बलदेव उपाध्याय-पृ0 160

2- एष आत्मा पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो पिपास:
सत्यकाम: सत्यसंकल्प: इत्यादय: । -श्रीभाष्य-1/1/1

रामानुज ने ब्रह्म तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं माना है । ईश्वर शब्द का अर्थ ही है शासन करने वाला । चूँकि ब्रह्म को रामानुज शासक स्वीकार करते है अतएव इनके अनुसार ईश्वर एवं ब्रह्म पर्यायवाची हैं । जबकि शंकराचार्य मायोपहित ब्रह्म को ईश्वर तथा विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म को परब्रह्म स्वीकार करते हैं । शंकर माया को ही अज्ञान, अविद्या आदि पदों से अभिहित करते हैं । रामानुज ने उनके इस तर्क का खण्डन किया और माया को ब्रह्म की उपाधि नही वरन् उसकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया । इसी शक्ति से युक्त होने के कारण ईश्वर सर्वशक्तिमान् कहलाता है । परमेश्वर इसी माया के साथ सृष्टि की रचना करते है ।[1] विचित्र सृष्टिकारिणी प्रकृति के लिए ही प्रायः माया शब्द का प्रयोग किया गया है । "मम् माया दुरत्यया" इस गीता वाक्य में भी "गुणमयी" पद से उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख किया गया है ।

आचार्य रामानुज ने अपने सात प्रबल तर्कों से शंकराचार्य के माया विषयक सिद्धान्त का खण्डन किया है जो सप्तविधा अनुपत्ति के नाम से विख्यात है । वैसे तो इस प्रसंग में सप्तविधा अनुपपत्ति के उल्लेख का कोई प्रसंग नही है तथापि चूँकि यह रामानुज के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध अंश है इसलिए माया के प्रसंग के कारण इन अनुपपत्तियों का नामोल्लेख मात्र किया जा रहा है ।

(1) आश्रयानुपपत्ति

(2) स्वरूपानुपपत्ति

(3) अनिर्वचनानुपपत्ति

(4) प्रमाणानुपपत्ति

(5) तिरोधानुपपत्ति

1- अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तास्मिंश्चान्यो मायया सन्निरूद्धः

-श्रीभाष्य 1/4/27

(6) निवर्तकानुपपत्ति

(7) निवृत्यानुपपत्ति

इस सगुण ब्रह्म को रामानुज ने पाँच स्वरूपों में अभिव्यक्त माना है (1) पर (2) व्यूह (3) अन्तर्यामी (4) विभव तथा (5) अर्चावतार ।

पर-

पर वैकुण्ठनाथ है । ये विरजा के पार माया मण्डल के परे विराजते हैं ।

व्यूह-

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में यह परब्रह्म का चतुर्व्यूह रूप है ।[1]

अन्तर्यामी-

भगवान का यह रूप प्राणिमात्र के अन्तस में प्रकट होकर उनका नियमन करने वाला होता है ।[2]

विभव-

रामकृष्ण आदि अवतारों में उनका विभव स्वरूप प्राप्त है ।[3]

1- " वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्सलं स्वाश्रित संमाश्रयनीय त्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति-श्रीभाष्य, पृ0 809

2- यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ।

-बृहदारण्यक उपनिषद् 3/7/3

3- विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः । श्रीभाष्य-पृ0 810

अर्चावतार-

मन्दिर तथा उपासक के गृहों में पूजित मूर्तियों में ईश्वर का अर्चावतार है ।

रामानुज ईश्वर में कर्तृत्व स्वीकार करते हैं । ब्रह्म इस विचित्र जगत की सृष्टि, स्थिति तथा लय का निमित्त व उपादान दोनों ही कारण है ।[1] ईश्वर का यह कर्तृत्व स्वाभाविक है । जबकि शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर का कर्तृत्व औपाधिक है वस्तुतः तो वह कर्ता है ही नहीं ।

सृष्टि ईश्वर की लीलामात्र है । सृष्टि की रचना में प्रभु का कोई प्रयोजन निहित नही है । क्योंकि परमेश्वर तो आप्तकाम है । बालकों की क्रीडात्मक चेष्टा के ही समान इस सृष्टि को भी समझना चाहिए ।[2]

जीव का स्वरूप-

श्री रामानुज के त्रित्व सिद्धान्त में व्दितीय तत्त्व चित् स्वरूप जीव ही है । जीव ब्रह्म का अंश है क्योंकि चित् में ब्रह्म के सभी गुण और धर्म विद्यमान रहते हैं भले ही सीमित मात्रा में ही क्यों न हो ? जीव में ब्रह्म का सत्चिदांश मुख्य और आनन्दांश गौण रूप में रहता है । ब्रह्म के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि गुण भी सीमित मात्रा में जीव में रहते हैं । इसीलिए वेद भी "पादोऽस्य

1- प्रसिद्धिश्च-"सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाव्दितीयम्"
तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ततेजो सृजत् ।" -श्रीभाष्य 1/1/2

2- भगवद्व्दैपायन् पराशरादिभिरुक्तम् "अव्यक्तादिविशेषांतं
परिणामार्धिसंयुक्तम् क्रीडाहरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्"।-श्रीभाष्य-1/4/27

विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" के व्दारा जीव की ब्रह्मांशता को ही प्रतिपादित करते हैं ।

जीव ब्रह्म का अंश होते हुये भी अणुपरिमाण[1] व सीमित गुण वाला होने के कारण ब्रह्म से भिन्न है । लेकिन तत्त्वत: दोनों एक ही हैं ।

अणु रूप होने के कारण जीव की स्थिति इस शरीर के स्थान विशेष हृदय में बतायी गयी है ।[2] लेकिन शरीर के स्थान विशेष में स्थित रहते हुये भी यह आत्मा मलयागिरि चंदन की एक बूँद के समान समस्त शरीर को आह्लादित करती रहती है ।[3]

जीव में ज्ञातृत्व है । सीमित ज्ञातृत्व से युक्त होने के कारण ही जीव के लिए अल्पज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है । रामानुज ने ज्ञातृत्व के साथ-साथ जीवात्मा में कर्तृत्व का भी प्रतिपादन किया है । जैसा कि "यजेत् स्वर्गकाम:" इत्यादि शास्त्र वाक्यों में स्वर्ग, मोक्ष आदि फल के भोक्ता को ही कर्ता कहा गया है । किन्तु जीव का यह कर्तृत्व परमात्मायत्त है । क्योंकि ईश्वर ही मनुष्य के उद्योगानुसार तद्विषयक बुद्धि प्रदान करके उसे उस कार्य में संलग्न करते हैं ।

1- "एषाऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण: पंचधा संविवेश ।"

2- हृदि हि अयमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम् । -श्रीभाष्य 2/3/25

3- यथाहरिचन्दनबिंदुर्देहैकदेश वर्त्यपिसकलदेहव्यापिनमाह्लादं जनयति तद्वदत्मापि देहैकदेशवर्त्ती सकलदेशवर्तिनीं वेदनामनुभवति-श्रीभाष्य 2/3/24

आत्मा नित्य पदार्थ है उसकी उत्तपत्ति नहीं होती । रामानुज जीव को ब्रह्म का स्वगत भेद स्वीकार करते है अतएव ब्रह्म की नित्यता के साथ-साथ जीव की नित्यता भी स्वत: सिद्ध हो जाती है । जीव संख्या में बहुल है ।

अचित् का स्वरूप-

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु प्रकृति कहलाती है । प्रकृति भी ब्रह्म का विशेषणभूत है । इसके तीन भेद हैं:-§1§ शुद्ध सत्व §2§ मिश्र सत्व §3§ सत्व शून्य ।

शुद्ध सत्व-

शुद्ध सत्व में रज और तमोगुण की लेशमात्र भी नहीं रहती है । यह नी नित्य ज्ञानानंद का जनक निरवधिक तेजोमय द्रव्य है । यह ईश्वर की नित्य विभूति है । शुद्ध सत्व से नित्य तथा मुक्त पुरूषों के शरीर की तथा उनके भोग्य स्थान स्वर्गादि-कों की रचना होती है । रामानुज के सिद्धान्त में देहपात के अनन्तर भी जीव सूक्ष्म शरीर से युक्त रहता है । यह सूक्ष्म शरीर इसी शुद्ध सत्व का बना हुआ अप्राकृत होता है । तिङ•लैमत में यह शुद्ध सत्व जड़ तथा बडकलैमत में चैतन्य माना जाता है । शुद्ध सत्व से निर्मित नित्य विभूति, त्रिपाद विभूति, परमपद, परमव्योम, वैकुण्ठऔर अयोध्या आदि पदों से अभिहित की जाती है ।

मिश्र सत्व-

तम तथा रज से मिश्रित सत्व प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है । यही माया अविद्या या प्रकृति कहलाती है । शब्दादि पाँच विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत, पाँच प्राण, प्रकृति, महत् अहंकार तथा मन इसी के परिवर्तित रूप है । यह ईश्वर की लीला विभूति है ।

सत्व-शून्य-

सत्व शून्य अचित् तत्व को काल कहते हैं । इसमें कोई भी गुण नहीं है । नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलय इसी काल के अधीन है । यह प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुओं के परिणाम का कारण है ।

जीव के बंधन का कारण-

रामानुज भी जीव के बन्धन का कारण अविद्या को ही मानते हैं । किन्तु जीव की यह अविद्या कर्म प्रधान है । वस्तुत: कर्म ही जीव के बंधन का कारण है ।

जीव तथा जगत वस्तुत: अत्यन्त भिन्न तथा बाह्य सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं किन्तु किसी न किसी प्रकार जीव अविद्यावशात् अपने को प्रकृति से सम्बन्धित कर लेता है ।

कर्मों की विविधता के अनुरूप ही सृष्टि में देव, मनुष्य तथा पशु रूप की विविधता दृष्टिगोचर होती है । जीवों की सृष्टि में भगवान केवल निमित मात्र है सृष्ट्य जीवों की कर्मशक्ति ही प्रधान कारण है ।

जीव तथा जीवों का यह कर्मप्रवाह अनादि और अनंत है । " न जायते म्रियते वा विपश्चित्" " तद्धेदं तर्हि अन्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्याम् व्याक्रियत ।"

डॉ0 वात्स्यायन ने भी अपनी पुस्तक में कहा है कि शंकर के विरुद्ध रामानुज ने बन्धन का कारण अज्ञान मात्र नहीं बल्कि कर्म को माना है । कर्म बन्धन के कारण ही आत्मा में अहंकार उत्पन्न होता है । यह अहंकार ही अविद्या है । तथा अविद्या कर्म के कारण है । अत: परमतत्व के साक्षात्कार के लिए कर्म बन्धनों से छूटना आवश्यक है ।

ईश्वर के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित व्यक्ति को ही ईश्वर पापकृत्यों से हटाते हैं तथा स्वयं में कर्ता का अभिमान करने वालों को ईश्वर दुष्प्रवृत्तियों से विरत नहीं करते हैं जैसा कि उन्होंने गीता में स्वयं कहा है:-

" तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।"

मोक्ष का स्वरूप-

ईश्वर के भक्त जीव इस शरीरपात के अनन्तर ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करके ब्रह्मलोक के भोगों का उपभोग करते हैं । यही जीव की मुक्तावस्था है । रामानुज जीवन्मुक्ति, सद्योमुक्ति को न मानकर क्रममुक्ति या विदेहमुक्ति को ही स्वीकार करते हैं । शरीरपात के अनन्तर ही मुक्ति संभव है ।

किन्तु मोक्षावस्था में भी ईश्वर तथा जीव में आराध्याराधक या स्वामी सेवक भाव ही बना रहता है । जीव को यह स्मरण रहता है कि वह ब्रह्म का अंश, शेष, नियम्य तथा दास ही है । इस प्रकार रामानुज किसी भी अवस्था में जीव ब्रह्मैक्य स्वीकार नहीं करते हैं । अर्थात् जीव की अपनी पृथक सत्ता उसी प्रकार बनी रहती है जिस प्रकार कि संसार दशा में उसकी एक पृथक सत्ता होती है ।

भगवत् सायुज्य प्राप्त कर मुक्तात्मा भी भगवान के समान स्वार्थ सिद्धि प्राप्त करते हैं:-" देवता सायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत्स्वार्थसिद्धिस्यात् ।"

मोक्ष का स्वरूप नित्य है । भगवान की आराधना के फलस्वरूप कर्म बन्धन का नाश हो जाने पर यह जीव इस संसार में पुनः नहीं आता है:-

" मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवंति महात्मनः संसिद्धिपरमागत: ।।"

मोक्ष के साधन-

श्री रामानुज ने मोक्ष की सिद्धि के लिए भक्ति को ही साधन के रूप में

की भाँति अविद्या की निवृत्ति मात्र से ब्रह्म साक्षात्कार को असंभव बताते है । उनके अनुसार तो अविद्या की निवृत्ति से केवल इतना ही होता है कि जीव का ध्यान सांसारिक विषयों से हटकर ईश्वर की ओर केन्द्रित हो जाता है । मुमुक्षु को सर्वप्रथम कर्मयोग, ज्ञानयोग, तत्पश्चात् भक्तियोग का अनुष्ठान करना चाहिए ।

कर्म-

जीव जब तक इस शरीर से बद्ध है तब तक कर्म का त्याग उसके लिए असंभव है । क्योंकि यह स्थूल शरीर कर्म प्रधान है । लेकिन सदैव उत्तम कृत्यों का ही सम्पादन करना चाहिए । क्योंकि उत्कृष्ट कार्य करने वाला ही सद्गति को प्राप्त करता है ।

सदा वर्तमान रहने वाले तथा शाश्वत् फल प्रदान करने वाले साधनों का ही सम्पादन श्रेष्ठ कृत्य हैं । सृष्टि की रचना करने वाले परब्रह्म परमेश्वर ही एकमात्र शाश्वत्, नित्य, सर्वज्ञ, शक्तिमान् होने के कारण साधनीय हैं उन्हें प्राप्त करने में जो कर्म सहायक हैं वही कर्म श्रेष्ठ कहलाते हैं ।

कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के प्रति आसक्त हुये बिना समस्त कर्मों, विधियों, वर्णाश्रम धर्मों, संस्कारों का सम्पादन करना कर्मयोग है । देवपूजन, तपश्चरण, तीर्थ-यात्रा, दान एवं यज्ञ इन विधियों का पालन करने पर आत्मा पवित्र होती है । पवित्र आत्मा से प्रभु का स्मरण में सहायता मिलती है । जो व्यक्ति स्वयं को प्रभु के चरणों में समर्पित कर देते हैं उन्हें भगवान कृपा करके अपनी प्राप्ति के उपायभूत कल्याणमय कर्मों में उसकी रूचि प्रकट कर देते हैं:-

" तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांतिते ।।"

ज्ञान–

स्वयं को प्रकृति से पृथक तथा ईश्वर के अंशरूप में देखना ही ज्ञान है । ईश्वर का अंश होने के कारण जीव अपने अंशी के समीप पहुँचना अवश्य ही चाहेगा । इसके लिए वह सृष्टि के नियामक के चरणों में स्वयमेव पूर्ण समर्पित हो जाता है । जीव सृष्टि के परिवर्तनशील स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सत् स्वरूप नित्य विद्यमान परब्रह्म को पाना चाहता है । यही ज्ञानयोग है । जिस प्रकार कर्मयोग ज्ञानयोग की तरफ ले जाता है उसी प्रकार ज्ञानयोग भक्तियोग की तरफ ले जाता है ।

यद्यपि रामानुज के मत में भक्ति ज्ञान कर्म सापेक्ष्य है किन्तु रामानुज उन वैष्णव आचार्यों में से हैं जिन्होंने भक्ति की सुदृढ़ स्थापना और उसका महत्त्व प्रख्यापित करने में विशेष योगदान दिया है । चूँकि इस शोध प्रबन्ध का प्रमुख विषय आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा है अतएव अब हम रामानुज को अभिमत भक्ति के स्वरूप पर विशेष विस्तार से चर्चा करेंगे ।

भक्ति–

जीव इस संसार में सदैव किसी न किसी अभीष्ट वस्तु के लिए प्रयत्नशील रहता है । लेकिन किसी वस्तु को प्राप्त कर हमें क्षणिक सुखानुभूति तो अवश्य होती है किन्तु हम पुनः उस वस्तु से ऊबकर नये लक्ष्य के लिए उद्विग्न हो जाते हैं । और हमारा अवसाद पहले की भाँति ही बना रहता है ।

वस्तुतः हम ये जानते ही नहीं कि हमें क्या अभीष्ट है ? क्योंकि जीव अपने कर्म बन्धनों के फलस्वरूप अहंकार में जकड़ा हुआ है तथा इस सृष्टि में सुख प्राप्ति के लिए भटकता रहता है । जीव को इस सृष्टि में बार बार दुःखों की प्राप्ति होती है क्योंकि तमोगुण के प्राकट्य के कारण सृष्टि में

दु:ख ही अधिक परिलक्षित होता है । यही शास्त्रों में वर्णित है तथा रामानुज को भी शास्त्रों का यह सिद्धान्त स्वीकार है ।

किसी क्षण में ईश्वर के अनुग्रह से या शुभ कर्मों के सम्पादन के फलस्वरूप इस संसार के दु:खों से घबड़ाकर व्यक्ति किसी योग्य गुरू की शरण में जाता है । तब जीव को ईश्वर, जीव तथा जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है । जीव यह समझ लेता है यदि ईश्वर की उपासना की जाये तो उसे ईश्वर का समीप्य प्राप्त हो सकता है । भगवान अखण्ड आनन्द की विभूति है इसीलिए उनका साहचर्य प्राप्त कर जीव भी सुख प्राप्त करता है । इस प्रकार भक्ति ही वह साधन है जो जीव को ईश्वर का सामीप्य प्रदान कराती है ।

आचार्य रामानुज ने भक्ति को स्मरण, ध्यान, उपासना, वेदन इत्यादि संज्ञाओं से भी अभिहित किया है । भक्ति पद भज् धातु + क्विद् प्रत्यय के संयोग से बना हुआ है । इसमें भज् धातु सेवा अर्थ में प्रयुक्त होती है तथा क्तिन् प्रत्यय का अर्थ प्रेम है । अत: भक्ति पद का शब्दार्थ है प्रेमपूर्वक की जाने वाली सेवा । यही सेवा जीव के सांसारिक बंधनों को काटकर उसे ईश्वर के अत्यन्त समीप पहुँचा देती है । इस प्रकार की ईश्वरीय सेवा निस्वार्थ भाव से की जानी चाहिए । यही अहैतुकी भक्ति है । ईश्वर के साथ अपने प्रेमपूर्वक सम्बन्ध को हम किसी भी भाव में स्थापित कर सकते है यथा पिता, गुरू, सखा, प्रियतम इत्यादि । इस प्रकार भक्ति में मानव को अपने सांसारिक भावनाओं को एक झटके में नहीं समाप्त करना पड़ता है । जीव सहज रूप में ध्यान के व्दारा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करके अपनी मनोभावनाओं का उदातीकरण कर सकता है ।

भक्ति के अपेक्षित तत्व-

भगवदनुग्रह को सभी आचार्य भक्ति का सर्वप्रथम अपेक्षित तत्व स्वीकार करते हैं । उसके बाद शरणागति का स्थान है । रामानुज ने शरणागति के महत्त्व

अधिक विस्तृत रूप में निरूपित किया है तथा उसे भक्ति की एक शाखा के रूप में प्रतिष्ठापित किया । उनके अनुसार पूर्ण आत्मसमर्पण के पश्चात भगवदनुग्रह स्वयमेव प्राप्त हो जाता है । प्रेम तो भक्ति का प्राण तत्त्व है क्योंकि यह तो भक्ति का वाच्यार्थ ही है । गुरु आश्रय का महत्त्व तो सभी दर्शन के आचार्य स्वीकार करते हैं । अब क्रमशः एक-एक तत्त्व का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है:-

भगवदनुग्रह-

भगवान की कृपा भक्ति के लिए प्रथम आवश्यक तत्त्व है जिसके ऊपर प्रभु का अनुग्रह रहता है वही उनकी भक्ति को प्राप्त कर सकता है । श्री रामानुज गीता को उद्धृत करते हुये कहते है कि " नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।" ये वाक्य उन परमात्मा की दुर्बोधता तथा कृपा के द्वारा उनके साक्षात्कार का ज्ञापन करते हैं । इस प्रकार की भगवत्कृपा एक तो पूर्वजन्म के सञ्चित शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है दूसरे यदि हम ईश्वर के चरणों में पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण कर दें तो जीव पर ईश्वर का अनुग्रह स्वयमेव हो जाता है ।

आत्मसमर्पण-

प्रपत्ति भक्ति की पूर्वापेक्षा है । ईश्वर के प्रति उत्पन्न प्रेम शरणागति की भावना को तीव्र करता है । नारायण के चरणारविन्द में आत्म-समर्पण करने के अतिरिक्त अन्य कोई महनीय साधना नहीं है । रामानुज मूलतः दास्य भाव की भक्ति को स्वीकार करते हैं । भगवान के चरणों में स्वयं को लुटा देना, आत्माभिमान छोड़कर तथा सब धर्मों का परित्यागकर शरणापन्न होना ही पूर्ण आत्मसमापर्ण है । अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का वर्जन, "भगवान रक्षा करेंगे" यह विश्वास, त्राता के रूप में उनका वरण तथा आत्मसमर्पण को जन्म देने वाला

कार्पण्य भाव ही आत्मसमर्पण के प्रमुख अंग हैं । यह आत्मसमर्पण ही प्रपत्ति है जो कि भक्ति का अनिवार्य अंग है । प्रपत्ति को भक्ति के एक शाखा के रूप में अलग से विवेचित किया जायेगा ।

प्रेम-

प्रेम तो भक्ति का प्राणतत्व है । प्रेम की अनुपस्थिति में तो भक्ति की संभावना ही नही है । रामानुज प्रेम के बहुत संयत स्वरूप को ही भक्ति में स्थान देते हैं । इसी लिए श्री रामानुज की भक्ति दास्य भाव की उपासनात्मक स्वरूपिणी है । लेकिन उपासना को श्री रामानुज ज्ञानी भक्तों के लिए उपयुक्त मानते हैं ।सरल एवं सहज भक्ति के लिए तो वे प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था करते हैं जिसमे प्रेम का ही प्राकट्य रहता है । भक्ति के लिए प्रेम का होना आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में किसी भी प्रकार का अनुष्ठान निरर्थक प्रतीत होता है तथा ईश्वर में स्नेह न हो उसकी सत्ता पर विश्वास करना ही कठिन हो जायेगा । प्रेम रहने पर ही हम भगवान के स्वरूप को जानने के लिए व्याकुल होते हैं तथा नवधा भक्ति के अनुष्ठान से धीरे-धीरे भगवद् साक्षात्कार की ओर अग्रसर होते है ।

गुरू-आश्रय-

जीव अपने स्वामी ईश्वर के समीप स्वयं नहीं पहुँच सकता है उसे इस कार्य के लिए गुरू की आवश्यकता पड़ती है । आचार्य पुरस्कृत जीव को ही नारायण स्वीकार करते हैं । जीव भी आचार्य के व्दारा कृपापूर्वक विहित उपदेश का पालन करता हुआ भगवद्सान्निध्य को प्राप्त कर सकता है ।

भक्ति का स्वरूप-

श्री वैष्णवों की साधनापद्धति जीव तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध को लेकर ही प्रवृत्त होती है । भगवान तथा जीव का अनादिकाल से शेषशेषीभाव

है । जीव दास तथा ईश्वर स्वामी है । जीव की इस प्रख्यात भावना का नाम "शेषभूतता" है । गीता में भी कहा गया है " हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्माविभूतय:" अर्थात् भगवान ने स्वयं जीवों को आत्म-विभूति कहा है । रामानुज इस विभूति पद का अर्थ "नियम्यत्त्व" बताते हैं अर्थात् शेष होना जिसका नियमन अथवा संचालन भगवान के व्दारा होता है । यह शेष होना ही जीव के दास्य भाव का सूचक है । अतएव अपने शासक अन्तर्यामी ईश्वर तथा स्वयं अपने स्वरूप से परिचित होकर तन, मन तथा धन से भगवान तथा भागवतों की निर्हेतुक तथा एकनिष्ठ सेवा ही भक्ति है । भगवान की सेवा तब तक अपूर्ण रहती है जब तक कि उनके भक्तों की सेवा न की जाये । " एवंविधं भगवत्-कैङ्.र्यं भागवत-कैङ्.र्यपर्यन्तं न चेत्-पूर्णत्वं न याति ।"

भक्ति के भेद-

भक्ति के साधन एवं साध्य नामक दो प्रकार के भेद स्वीकार किये जाते हैं । रामानुज भी इसी परंपरा को बनाये रखे हैं । वास्तव में भक्ति एक अस्पष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत स्थूलतम कोटि की पूजा से लेकर उच्चतम आत्मदर्शन भी आ जाता है । रामानुज वेदन, ध्यान, उपासना इत्यादि पदों को भक्ति का ही सूचक मानते है ।[1] उनके अनुसार "मनोब्रह्मेत्युपासीत्" में जो भाव "उपासना" शब्द से व्यक्त है वही भाव "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" में "वेद" पद से अभिधेय है तथा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यास तव्यश्च" एवं "ततस्तु तं पश्चति निष्कलं ध्यायमान:" आदि वाक्यों में वेदन अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है । रामानुज श्रवण, मनन या निदिध्यासन को ध्यान का ही एक प्रकार मानते हैं ।[2] तथा साधन भक्ति के रूप

1- श्रीभाष्य- 4/1/1

2- श्रीभाष्य- 1/1/1

में इसी प्रकार की भक्ति की स्थापना करते हैं क्योंकि इसमें साधनानुष्ठान की आवश्यकता पड़ती है । वेदों को पढ़ा हुआ व्यक्ति शब्द के प्रयोजनीय अर्थ को जानकर उसके निर्णय के लिए स्वयं ही श्रवण के लिए प्रस्तुत होता है । इस प्रकार श्रवण ध्यान का ही एक प्रकार है । श्रवण को स्थिर करना ही मनन का प्रयोजन है । इसलिए मन्तव्य को भी ध्यान का ही अनुवाद मानना चाहिए । श्रीभाष्य में रामानुज ने ध्यान की परिभाषा दी है "ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम् ।"[1] अर्थात् तैलधारा की भाँति अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति परंपरा ही ध्यान है । इसी स्मृति को चिन्तन भी कहा है । तथा इसी अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति को वेदन अर्थ में प्रयोग किया गया है:-

" तद्रूप प्रत्ययैका संततिश्चान्य निस्पृहा तद्ध्यानं प्रथमै:
षड्भिरंगै निष्पाद्यते ।"[2]

यह अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति मोक्ष प्रदान करने वाली है" ध्रुवास्मृति: स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष: ।" यह स्मृति आत्मदर्शन के समान रूप वाली है "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया: । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।" इस वाक्य में स्मृति एवं दर्शन की एकरूपता दिखाई गई है ।

इस स्वरूप की ध्रुवानुस्मृति या ध्यान {भक्ति} विवेकादि साधन सप्तक के अनुष्ठान से सिद्ध होती है ।

विवेक-

अदूषित, अनिषिद्ध भोजन के प्रयोग द्वारा शरीर की शुद्धि करके उसकी रक्षा करना ही विवेक है "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि:सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति ।"

1- श्रीभाष्य-1/1/1

2- श्रीभाष्य-4/1/2

विमोक-

काम्य विषयों में आसक्ति न होना ही विमोक है । " शान्त उपासीत् ।"

अभ्यास-

अन्तर्यामी परमात्मा का सतत् अनुशीलन ही अभ्यास है " सदा तद्भावभावित: ।"

क्रिया-

पशुओं, मनुष्यों, गुरू, पितरों, देवों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना क्रिया है । अपने साधनों के अनुसार पञ्च महायज्ञों एवं संस्कारों, परोपकार, स्वाध्याय तथा तप का सम्पादन करना चाहिए । "तमे तवेदानुवचेन ब्राह्मणा विविदिषान्ति यज्ञेन, दानेन तपसा नाशकेन ।"

कल्याण-

सत्य, सरलता, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या (सफल चिन्तन) को कल्याण कहते है " तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोको ।"

अनवसाद-

देशकालादि की विपरीतता तथा शोक के कारणों की स्मृति से होने वाली मन की दुर्बलता और अप्रसन्नता को अवसाद कहते हैं । इसका न होना ही अनवसाद है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य: ।"

अनुद्धर्ष-

असन्तोष तथा अतिसन्तोष के मध्य की वृत्ति रखना ही अनुद्धर्ष है "

"

साधन सप्तक एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि विधियों के अनुष्ठान के पश्चात् उपासना रूपी साध्य भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जाती है । उपासना के स्वरूप का विवेचन करते हुये श्री रामानुज कहते हैं कि ईश्वर की उपासना उपासक के व्दारा अपनी आत्मा के रूप में ही करनी चाहिए । क्योंकि परमात्मा प्रत्येक जीव में अन्तर्यामी रूप से निवास करते है अतएव वही जीव की आत्मा है " यः आत्मनि निष्ठन् --।" उपासना की विधि के विषय में आचार्य को सामान्य नियम ही मान्य हैं जैसे उपासना बैठकर ही संभव है । क्योंकि बैठने पर ही चित्त की एकाग्रता संभव है ।उठते-बैठते, चलते-फिरते या सोते हुये बिना किसी नियम के उपासना संभव ही नहीं है । रामानुज उपासना को "निदिध्यासतव्यः" कहकर ध्यान स्वरूप ही मानते हैं अतएव ध्यान में निश्चलता अपेक्षित है " ध्यायतीव पृथ्वी" । मन की एकाग्रता के अनुकूल स्थान और समय में ही उपासना की जानी चाहिए । "समे शुचौ शर्करावहिनबालुका विवार्जिते" इत्यादि वाक्य में जो स्थान का निर्देश किया गया है वह चित्त की एकाग्रता के अनुकूल स्थान का ही सूचक है किसी स्थान विशेष का निर्धारक नही ।[1]

ब्रह्म की इस प्रकार की उपासना जीवन पर्यन्त की जानी चाहिए । " स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमन्तिसंपद्यते ।"[2]

इस प्रकार की भक्ति या उपासना का अनुष्ठान स्थूल शरीर त्याग के पश्चात् भी किया जाता है क्योंकि रामानुज या सभी वैष्णव किसी भी स्थिति जीव ब्रह्मैक्य को नहीं स्वीकार करते हैं । अतएव ब्रह्मलोक में ब्रह्म तथा जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामीसेवक भाव वैसे ही बना रहता है तथा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करके भी अर्थात मुक्तावस्था में भी जीव अखण्ड सुखानुभूति

1- श्रीभाष्य- 4/1/11

2- श्रीभाष्य- 4/1/12

करता हुआ ईश्वर की भक्ति में ही लीन रहता है । यही साध्य भक्ति का स्वरूप है ।

प्रपत्ति मार्ग-

सवर्णों और विद्वानों के लिए तो रामानुज ने भक्ति मार्ग का वर्णन किया लेकिन अशिक्षित, शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए उन्होंने एक अन्य मार्ग का वर्णन किया जिसे "प्रपत्ति का मार्ग" कहते हैं । प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति आत्मसमर्पण । रामानुज ने कहा कि भगवान नारायण भूमा है उनके श्री चरणों में आत्मसमर्पण करने से ही जीव को वास्तविक शान्ति मिल सकती है । ईश्वर के चरणों में अपने को लुटा देना आत्माभिमान छोड़कर तथा सब धर्मों का परित्याग कर शरणापन्न होना ही प्रपत्ति का स्वरूप है । भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने स्वयं कहा है:-

" सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि माशुचः ।।"

अथवा

" मन्मना भव ।"

प्रपत्ति के तीन विशेषण है जिन्हें प्रपत्ति का घटक तत्त्व भी कहा जा सकता है ।

(1) अनन्य शेषत्व

(2) अनन्य साधनत्व

(3) अनन्य भोग्यत्व[1]

अनन्य शेषत्व-

भगवान का दास होना

अनन्य साधनत्व-

एकमात्र भगवान को ही तत्प्राप्ति में साधन मानना ।

अनन्य भोग्यत्व-

अपने को एक भगवान का ही भोग्य समझना ।

इन तीनों आकारों से विशिष्ट होने पर ही प्रपत्ति में पूर्णता आती है । परन्तु दैववश एक दो आकारों की न्यूनता होने पर भी भगवदनुग्रह से फल में किसी प्रकार न्यूनता नहीं आती है जैसा कि स्वयं रामानुज के शब्दों से स्पष्ट है:-

" इदमेव करणत्रयम्, एककरणे न्यूनता चेदपि भगवत् प्रभावत: फलन्यूनता नास्ति"- रामानुज ।

इस प्रकार की प्रपत्ति के छ: अंग हैं:-

§1§ आनुकूल्य संकल्प- ईश्वर की इच्छा का पालन करना ।

§2§ प्रातिकूल्य-वर्जन-उन सब वस्तुओं का परित्याग, जो भगवान को अप्रिय है ।

§3§ महाविश्वास-भगवान के अनुग्रह में दृढ़ विश्वास रखना ।

§4§ कार्पण्य-ज्ञान, कर्म, भक्ति की निष्ठाओं को कर सकने की असमर्थता ।

§5§ गोप्तृत्व-वरण- मोक्ष के लिए एकमात्र भगवान की कृपा या दया पाना है ।

§6§ आत्मनिक्षेप- स्वयं को भगवान के चरणों में समर्पित कर देना है ।

यह समर्पण भी इस श्रद्धा विश्वास से किया जाता है कि इस आत्मसमर्पण की प्रेरणा भगवद् कृपा का परिचायक है ।

प्रपत्ति भी भगवत्प्राप्ति में परम्परया साधन है साक्षाद्रूपेव नहीं । प्रपत्ति के अनुष्ठान से भगवत्कृपा सम्पादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भगवान की प्राप्ति होती है अत: वास्तव में भगवत्कृपा ही उनके प्राप्ति में एकमात्र उपाय है । प्रपत्ति तो भगवन्मुखोल्लासार्थ है इसीलिए तो गीता में भी कहा

गया है:-

" नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमैवेषवृणुतेतेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ।।"

जीव को भगवान के समीप पहुँचने के लिए गुरू की आवश्यकता होती है । आचार्य पुरस्कृत जीव को ही नारायण स्वीकार करते हैं ।

बाद में रामानुज के अनुयायियों की दो शाखाएँ विभाजित हो गयीं । §1§ तिङ.लै §2§ बडकलै । इन दोनों शाखाओं में विरोध का प्रधान कारण तमिल और संस्कृत का विवाद था ।

तिङ.लैमत में तमिल वेद नालायिर प्रबन्ध §आडवारों की प्रसिद्ध रचना§ ही एकमात्र प्रमाण माना जाता था । ये लोग संस्कृत ग्रन्थों में श्रद्धा नहीं रखते थे ।

बडकलैमत वाले दोनों भाषाओं में निबद्ध ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते थे । परन्तु वे स्वभावत: संस्कृताभिमानी थे ।

इन दोनों मतों में भाषा के अतिरिक्त 18 सिद्धान्तगत पार्थक्य है जिसमें प्रपत्ति विषयक पार्थक्य विशेष रूप से माननीय है । दोनों ने अपने-अपने विचारों को समझाने के लिए मार्जार-किशोर-न्याय तथा कपि-किशोर न्याय का सहारा लिया है ।

मार्जार-किशोर-न्याय§तिङ.लैमत§-

जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा स्वयं निश्चेष्ट होकर अपने को माता के आश्रय में डाल देता है तथा उस क्रियाहीन बच्चे की रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व उसकी माँ के ऊपर आ जाता है ।

उसी प्रकार यदि जीव अपने आपको पूर्णरूप से ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दे तथा अहंकार का त्याग कर दीन-हीन §बिल्ली के बच्चे की तरह§ ईश्वर को पुकारे तो ऐसे शरणागत जीव की मुक्ति का मार्ग भगवान स्वयं प्रकट कर देते

है । इस प्रकार इन मत के अनुसार मुक्ति की प्रक्रिया स्वयं ईश्वर कृपा से प्रारम्भ होती है । केवल शरणागति ही जीव के द्वारा अपेक्षित है । इस मत के प्रतिष्ठापक श्री लोकाचार्य ﴾13 शतक﴿ थे । इन्होंने श्री-वचन-भूषण" ग्रन्थ में इस प्रपत्ति पंथ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है ।

कपि-किशोर-न्याय﴾बडकलैमत﴿-

इनके मत में प्रपन्न व्यक्ति को प्रपत्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है । जैसे बन्दर का बच्चा सुरक्षित स्थान तक पहुँचने के लिए अपनी माँ को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहता है । इस प्रकार बडकलैमत में प्रपत्ति का प्रारम्भ मुमुक्षु के कर्म के साथ होता है । इसमें ईश्वर का उत्तरदायित्व उतना नहीं है जितना जीव का । ऐसे भक्त ज्ञानी भक्त की कोटि में आते हैं । क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उन्हीं की शरण में जाना चाहिए । ऐसे ज्ञानी भक्तों की रक्षा ईश्वर अवश्य करते हैं लेकिन ऐसे जीव को सुमार्ग पर लाने की चेष्टा नहीं करते हैं । इस मत में जीव अपने कर्तृत्वाभिमान का त्याग नहीं कर सकता है । बडकलैमत के संवर्धक आचार्य विख्यात वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ ﴾वेदांतदेशिक﴿ 1269 ई0-1369 ई0﴿ थे जो लोकाचार्य के समकालीन थे ।

इसके अतिरिक्त इन दोनों शाखाओं में पाये जाने वाले अन्य मतभेद इस प्रकार है ।

﴾1﴿ टैंकले मतानुसार प्रपत्ति कोई मार्ग नहीं है अपितु यह एक मनःस्थिति है तथा यह उन सभी व्यक्तियों में पाई जाती है जो पूर्णता का अन्वेषण करते हैं तथा प्रपत्ति के समक्ष अन्य समस्त मार्गों का परित्याग कर देते हैं । जबकि बडकलै मतानुसार प्रपत्ति भक्त द्वारा आश्रित अनेक मार्गों में से एक है तथा ये भक्त के पुरूषार्थ की अपेक्षा रखती है ।

﴾2﴿ प्रपत्ति सभी व्यक्तियों के लिए है चाहे वे अन्य मार्गों का अनुसरण करने में समर्थ हों या नहीं । ﴾अन्य मार्गों का अनुभव करना आवश्यक है । जबकि

बडकलैमत में प्रपत्ति उन लोगों के लिए है जो कर्मयोग, ज्ञानयोग जैसे इतर मार्गों का अनुसरण नहीं कर सकते हैं ।

§3§ ईश्वर के समक्ष आत्म-समर्पण अन्य मार्गों को अपनाने के पहले ही करना चाहिए । जबकि बडकलै मत के अनुसार व्यक्ति जब अपने व्दारा स्वीकृत अन्य मार्गों को निष्फल समझे तब वह ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण करे ।

§4§ टेंकले मत आत्म-निक्षेप को स्वीकार करता है । जबकि बडकलै मत में आत्म स्वीकार का विधान है ।

§5§ टेंकले मतानुसार पहले प्रपत्ति तब छः विधियों का पालन करना चाहिए जबकि बडकलै मत में प्रपत्ति की छः विधियों का सेवन प्रपत्ति के पूर्व ही करना चाहिए क्योंकि उनसे प्रपत्ति का उद्भव होता है ।

§6§ टेंकले मत के अनुसार निम्न जाति वाले लोगों के साथ प्रत्येक विषय में समान व्यवहार करना चाहिए जबकि बडकलै मत मे केवल शब्द संलाप में निम्न जाति वालों के साथ व्यवहार करना चाहिए ।

§7§ सभी लोगों को सम्पूर्ण मन्त्र एक ही रूप में दिया जाना चाहिए । यह मन्त्र है "ॐ नमो नारायणाय" ऐसा टेंकले मत वालों की धारणा है । जबकि बडकलै मत के अनुसार इस अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश जब ब्राह्मणों को दिया जा रहा हो उसमें से ॐ अक्षर हटा देना चाहिए ।

इस प्रकार प्रपत्ति मार्ग की दोनों शाखाओं में कुछ सिद्धान्तगत अन्तर होने पर भी दोनों ही शाखाओं में शरणागति का महत्त्व बराबर है । दोनों एकमात्र शरणागति या प्रपत्ति से ही मुक्तिफल को प्राप्य बताते हैं ।

निष्कर्ष-

रामानुज के भक्ति विषयक सिद्धान्त की विवेचना के बाद हम उनके व्दारा अंगीकृत भक्ति का जो स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं वह इस प्रकार का

है । रामानुज ने भक्ति को स्मरण, ध्यान, उपासना तथा वेदन इत्यादि पदों से अभिहित किया है । इन्होंने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को ध्यान का ही एक प्रकार माना है । इन्होंने ध्यान को तैलधारा की भाँति अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति परंपरा के रूप में परिभाषित किया है । यही अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति मोक्षफलदात्री है । यह ध्रुवानुस्मृति विवेकादि साधन सप्तक के अनुष्ठान से सिद्ध होती है ।

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के उपरान्त उपासना रूपी साध्य भक्ति स्वयं प्रकट हो जाती है । अपने आत्मा के रूप में परमात्मा का ध्यान ही उपासना है ।

रामानुज के भक्ति विषयक सिद्धान्त में भक्ति के अपेक्षित तत्वों की भी समुचित व्याख्या है । इन्होंने गुरु-आश्रय को अत्यधिक महत्त्व दिया है । आचार्य पुरस्कृत जीव ही भक्ति का अधिकारी है । भगवदनुग्रह के अभाव में तो भक्ति की कल्पना भी असंभव है । यह भगवत्कृपा पूर्वजन्म के सं चित शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है । आत्मसमर्पण के विषय में तो इनका प्रपत्ति विषयक प्रचलित सिद्धान्त प्रतिपादित है । जिसमें इन्होंने एकमात्र शरणागति को ही मुक्ति का साधन माना है । प्रेम में अभाव में भक्ति की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती है । ईश्वर में प्रेम रहने पर ही भक्ति का अनुष्ठान संभव है । इनके सिद्धान्त में भक्ति के घटक तत्वों का विश्लेषण इसी प्रकार का है ।

प्रपत्ति विषयक मत की स्थापना रामानुज ने भक्ति को जन-साधारण के लिए सुलभ बनाने के लिए की है । वास्तव में रामानुज की भक्ति दास्य भाव की है । इसलिए दीन-हीन होकर पूर्ण रूपेण किये गये आत्मसमर्पण से प्रभु प्रसन्न होते है तथा उस भक्त का कल्याण अवश्य करते हैं । इनके प्रपत्ति विषयक सिद्धान्त में टैंकले तथा बडकलै दो मत विभाजित हो गये । टैंकले मत वाले मार्जार-किशोर-न्याय का उदाहरण देकर प्रपत्ति में जीव पुरुषार्थ को कोई स्थान नहीं देते । जबकि

बडकलै मत में कपि-किशोर-न्याय प्रचलित है जिसके अनुसार प्रपत्ति के साथ जीव पुरुषार्थ के लिए भी अवकाश है । यही इन दोनों शाखाओं का मूल मतभेद है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज की भक्ति ज्ञानमिश्रा एवं दास्य भाव की है जिसमें प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था करके भक्ति का अधिक सरल स्वरूप भी निर्धारित कर दिया गया है ।

मध्वाचार्य

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषयानुसार वैष्णव आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा के क्रम में अब आचार्य मध्व का ही नाम उपस्थित होता है । मध्वाचार्य ब्रह्मा के व्दारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के मध्ययुगी प्रतिनिधि माने जाते हैं । इसी से इनके सम्प्रदाय को ब्रह्म सम्प्रदाय कहा जाता है । यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि श्री, ब्रह्मा, रूद्र तथा सनक के ही उपदेशों को हमारे चारों प्रमुख वैष्णव आचार्यों ने विकसित किया । इसी कारण इन आचार्यों के सम्प्रदायों के नाम भी इनके उपदेष्टाओं के नाम पर ही पड़ा:-

" रामानुजं श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुख: ।
श्री विष्णुस्वामिनं रूद्रो निम्बादित्यं चतु:सन: ।।"[1]

मध्वाचार्य के मत का उद्भव दक्षिण भारत में हुआ तथा आज भी वहीं इसका विपुल प्रचार है । बंगाल का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय (चैतन्य मत) इसी माध्व मत की एक विशिष्ट शाखा है । दार्शनिक दृष्टि से कुछ अन्तर होने पर भी चैतन्य मत माध्व मत के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा सम्बद्ध है ।[2] आचार्य मध्व का मत विशुद्ध व्दैतवाद के नाम से विख्यात है । पाँच प्रकार के भेदों को नित्य मानने के कारण इन्हें भेदवादी भी कहा जाता है । इन पंचविध भेदों की चर्चा आगे विस्तारपूर्वक की जायेगी । इसके पहले आचार्य के जीवन वृत्त पर एक दृष्टि डालना संगत होगा ।

1- प्रमेय रत्नावली- पृ0 8

2- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य एवं सिद्धान्त- पृ0 169

जीवन-परिचय-

आचार्य मध्व के जीवन काल के विषय में विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये है तथा अपने मत को प्रमाणित करने के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्यों का भी उल्लेख किया है । परन्तु उड़ीसा के गंजाम जिलान्तर्गत [श्री कूर्म] प्राप्त शिलालेख के आधार पर डॉ० बी०एन०के० वर्मा प्रभृति विद्वानों ने आचार्य का जीवन काल 1238 ई० से 1317 ई० तक माना है ।[1]

इस प्रकार आचार्य मध्व का जन्म 1238 ई० में वर्तमान मैसूर रियासत में प्रसिद्ध क्षेत्र "उडुपी" से लगभग आठ मील दक्षिणपूर्व "पाजक" नामक ग्राम में तुलुव ब्राह्मण परिवार में हुआ था । इनके पिता का नाम पं० मध्यगेह भट्ट तथा माता का नाम वेदवती था । श्री मध्व को वायुदेव का तृतीय अवतार माना जाता है ।[2] इनका बचपन का नाम वासुदेव था । 11 वर्ष की अवस्था में ये पुंगवन भट्ट नामक गुरू के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए पधारे तथा 16 वर्ष की अवस्था में इन्होंने एकान्ति वैष्णव सम्प्रदाय के त्रिदण्डी सन्यासी अच्युतप्रेक्षाचार्य से सन्यास ग्रहण किया । इन्होंने ने ही आचार्य का नाम "पूर्णप्रज्ञ" रक्खा तथा बाद में इनकी प्रतिभा से प्रसन्न होकर इन्हें "आनन्दतीर्थ" नाम से सुशोभित कर दिया । कुछ समयोपरान्त मध्व के मन में मायावाद एवं अव्दैतवाद के प्रति

1- श्री माध्व वेदान्त [पूर्ण प्रज्ञ भाष्य]-ललित कृष्ण गोस्वामी

2- " यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने रूपाणि दिव्यानलं
वटतद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महद् ।
वायो रामवचनोयं प्रथमकं पृक्षो व्दितीयं वपु
र्मध्वो यन्तु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे ।।"
-महाभारततात्पर्यनिर्णय-32/181

तीव्र अवहेलना उपस्थित हुई और इन्होंने स्वतन्त्र द्वैत मत को प्रतिष्ठापित किया ।

इन्होंने दक्षिण भारत की यात्रा के पश्चात् उडुपी लौट कर गीता भाष्य की रचना की । उत्तर भारत की यात्रा भी आचार्य ने दो बार की । हिमालय में महाबदरिकाश्रम में इन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना की और बिहार बंगाल के रास्ते स्वदेश लौटे । उडुपी लौट कर आचार्य ने श्रीकृष्ण की सुन्दर मूर्ति तथा आठ मठों की स्थापना की । उडुपी के ये मठ दक्षिणादि मठ कहलाते हैं । आचार्य ने श्रीपद्मनाभतीर्थ, श्रीनरहरितीर्थ, श्री माधव तथा अक्षोभ्यतीर्थ को अपने मत के प्रचार के लिए अन्य चार पीठों ﴾दक्षिणादि मठ के अतिरिक्त﴿ पर स्थापित किया । इन शिष्यों ने प्राय: भ्रमण करके उत्तर भारत में अपने मत का प्रचार किया इसी से इनके मठ"प्रचार मठ" या उत्तरादिमठ के नाम से जाने जाते हैं ।

श्री मध्व 69 वर्षों तक अपने भक्तों को कृतार्थ करते रहे तथा द्वैतमत की सुदृढ़ प्रतिष्ठा के उपरान्त माघ शुक्ल नवमी तिथि को पिंगल 1318 ई0 में इस धराधाम से अन्तर्ध्यान हो गये:-

" एकोनाशीति वर्षाणि नीत्वा मानुषदृष्टिगः ।

पिंगलाब्दे माघशुद्धनवम्यां बदरीं ययौ ।।"- अणुमध्वरचित

तथा बदरीनाथ में भगवान व्यासदेव की सन्निधि में अद्यावधि विराजमान हैं ।

रचनाएँ-

आचार्य मध्व का समग्र साहित्य चार भागों में विभक्त किया जा सकता है:-

﴾1﴿ प्रस्थानत्रयी पर व्याखया ।

§2§ दश प्रकरण ।

§3§ तात्पर्य-ग्रन्थ ।

§4§ काव्य-ग्रन्थ ।

प्रस्थानत्रयी पर व्याख्या-

§।§ गीता पर गीताभाष्य, गीतातात्पर्यनिर्णय §2§

§।।§ब्रह्मसूत्र पर सूत्रभाष्य, अणुभाष्य, अनुव्याख्यान तथा न्याय-विवरण§4§

§।।।§उपनिषदों पर दसों उपनिषदों पर भाष्य §10§

कुल मिलाकर 16 ग्रन्थ इस श्रेणी में आते हैं ।

दश प्रकरण-

आचार्य मध्व द्वारा रचित छोटे-छोटे दार्शनिक निबन्धों का समवेत नाम "दश-प्रकरण" है । इसमें निम्नलिखित 10 ग्रन्थ आते हैं:-

§1§ प्रमाणलक्षणम्

§2§ कथा लक्षणम्

§3§ उपाधिखण्डनम्

§4§ प्रपंचमिथ्यात्वानुमानखण्डन

§5§ मायावादखण्डनम्

§6§ तत्वसंख्यायनम्

§7§ तत्वविवेक

§8§ तत्वोदय

§9§ विष्णुतत्वनिर्णय

§10§कर्मनिर्णय

इस प्रकार के निबन्धों में आचार्य ने द्वैत वेदान्त के तर्क, धर्म, ज्ञान, मीमांसा आदि विषयों का संक्षिप्त परन्तु शास्त्रीय निरूपण प्रस्तुत किया है ।

तात्पर्य ग्रन्थ-

भागवततात्पर्यनिर्णय, महाभारततात्पर्य निर्णय, तथा ऋग् भाष्य नामक 3 ग्रन्थ इस श्रेणी में आते हैं ।

काव्य ग्रन्थ-

लघु स्त्रोत आदि विविध रचनाएँ इस वर्ग में आती है:- यमकभारत, नरसिंह नखस्तुति, व्दादशस्त्रोत, कृष्णामृत महार्णव, तन्त्रसारसंग्रह, सदाचार स्मृति, यतिप्रणवकल्प, कृष्णजयन्ती निर्णय तथा कन्दुक स्तुति । 37 ग्रन्थों को समवेत रूप से सर्वमूल की संज्ञा दी जाती है । कन्दुकस्तुति में मात्र 2 पद्यों का संकलन होने के कारण इसे सर्वमूल में स्वीकार नहीं किया गया है ।

दार्शनिक सिद्धान्त-

आचार्य मध्व सैद्धान्तिक दृष्टि से भेदवादी हैं । शंकराचार्य के अव्दैत तथा रामानुज के विशिष्टाव्दैत के विरोध में उन्होंने पाँच प्रकारके नित्य भेदों को स्वीकार किया है । ये पाँचो भेद निम्नालिखित हैं:-

§1§ ईश्वर एवं जीवात्मा का भेद ।

§2§ ईश्वर का जड़ जगत §प्रकृति§ से भेद ।

§3§ जीवात्मा तथा प्रकृति का भेद ।

§4§ एक जीव का दूसरे जीव से भेद ।

§5§ एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद ।

इन पन्चविध भेदों को स्वीकार करने के कारण ही आचार्य मध्व का सिद्धान्त भेदवादी सिद्धान्त कहलाता है । इन भेदों के कारण ही ब्रह्म तथा जीव की भिन्नता स्थापित की जा सकती है । ईश्वर स्वामी है तथा जीव उसका दास है । जीव अपनी सीमाओं में रहते हुये ईश्वर की भक्ति व्दारा भगवत्कृपा को प्राप्त करके मुक्ति का अधिकारी बन पाता है । इतना ही नहीं मोक्ष की स्थिति में भी ईश्वर जीव भेद तथा एक जीव का दूसरे जीव से भेद एवं उनके भोगों में भी तारतम्य बना रहता है । परमात्मा एवं जीव जीव में

भेद स्वीकार करने से ही आचार्य मध्व के दर्शन को द्वैतदर्शन की संज्ञा दी जाती है । इस द्वैतमत में मान्य सिद्धान्तों को हम संक्षेप में इस एक पद्य के द्वारा समझने की चेष्टा कर सकते हैं:-

" श्रीमन्मध्वमते हरि: परतर: सत्यं जगत् तत्त्वतो ।
भेदा जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गता: ।।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं ।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरि: ।।"

§1§ हरि परतर: -

श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं । भगवान जड़ प्रकृति तथा चेतन जीव से सर्वथा विलक्षण है । ईश्वर के गुण अनन्त है तथा उनके प्रत्येक गुण निरवधिक एवं निरतिशय है । इसीलिए विष्णु ही परम तत्त्व है ।

§2§ सत्यं जगत् -

जगत सत्य है जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् मायाजन्य होने के कारण रज्जुसर्प के समान मिथ्या माना गया है । द्वैतमत में जगत् की वास्तविकता की सिद्ध करने के लिए ये कहा गया है कि ईश्वर सत्य-संकल्प है । ऐसी दशा में सत्यसंकल्प के द्वारा निर्मित जगत् कदापि असत्य नहीं हो सकता ।

§3§ तत्त्वतो भेद: -

पाँच प्रकार के भेद वास्तविक हैं जिन्हें ऊपर बताया गया है । इन पञ्चविध भेदों का परिज्ञान मुक्ति में साधक होता है ।

§4§ जीवगणा हरेरनुचरा: -

समस्त जीवगण हरि के अनुचर हैं । अर्थात् जीवों का सकल सामर्थ्य भगवदाधीन है ।

§5§ नीचोच्चभावं गताः -

माध्व सम्प्रदाय का यह विशिष्ट मत है कि जीव संसार में तो अपनी कर्म भिन्नता के कारण ऊँचा नीचा है ही, साथ ही साथ मोक्ष की अवस्था में भी उनमें तारतम्य बना रहता है ।

§6§ मुक्तिर्नैज-सुखानुभूतिः -

जीव का अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करना ही मुक्ति है ।

§7§ अमला भक्तिः -

अहैतुकी भक्ति ही उच्चतम उपाय है । इसी अनन्या भक्ति को गीता में मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया गया है । भक्ति में स्वार्थ की भावना ही सबसे बड़ा दोष है ।

§8§ अक्षादिप्रमाण-त्रितयम् -

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं ।

§9§ आम्नायवेद्यो हरिः -

भगवान श्री नारायण ही वेदों के प्रतिपाद्य हैं ।

श्री व्यासराजस्वामिकृत इस श्लोक में मध्व के पूरे सिद्धान्त को संक्षेप में समझाने का प्रयास किया गया है ।

आचार्य मध्व के दर्शन में प्रमेयों का क्या स्वरूप निश्चित किया गया है इसे समझने के लिए उनकी पदार्थ मीमांसा का ज्ञान अपेक्षित है । मध्व ने पदार्थों की संख्या निश्चित करने के लिए वैशेषिकों की पद्धति का अनुसरण किया है । इन्होंने समस्त पदार्थों को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव इन दस श्रेणियों में विभक्त किया है ।

द्रव्य -

द्वैतमत में द्रव्य 20 प्रकार का स्वीकार किया गया है । परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महतत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना एवं प्रतिबिम्ब ।

गुण-

वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा, सौन्दर्य आदि की गणना इस पदार्थ के अन्तर्गत की जाती है ।

कर्म-

कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं:- विहित, निषिद्ध एवं उदासीन । विहित तथा निषिद्ध कर्मों का सम्बन्ध हमारे आचारशास्त्र से है । उदासीन कर्म के अन्तर्गत वैशेषिक सम्मत पञ्चविध कर्मों की गणना की जाती है ।

सामान्य-

जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों में निहित पाते हैं तो उसे हम "सामान्य" कहते हैं । सादृश्य एवं अभाव की कल्पना में भी कोई नवीनता नही है । भेद के अभाव होने पर भी भेद-व्यवहार का निर्वाहक पदार्थ विशेष माना जाता है । यह विशेष तत्व जगत के समस्त पदार्थों में रहने के साथ ही परमेश्वर में भी माना जाता है ।

शक्ति-

शक्ति चार प्रकार की मानी जाती है:- अचिन्त्य, आधेय, सहज,

चूँकि इस प्रबन्ध में भक्ति की व्याख्या ही प्रधान लक्ष्य है अतएव उसके आधारस्वरूप परमात्मा, लक्ष्मी, जीव एवं प्रकृति के विषय में थोड़ी विस्तृत चर्चा की जायेगी ।

ईश्वर-

ईश्वर (जीव) आत्मा, तथा जगत् ये तीन वस्तुएँ अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाली हैं । इनमें से परमात्मा तो साक्षात् विष्णु हैं । ब्रह्म शब्द भी विष्णु के लिए ही प्रयुक्त होता है । जैसा कि श्रुतियों में वर्णित है:-

" यमन्त: समुद्रे कवयो वदन्ति यदक्षरे परमे प्रजा: ।
यत: प्रसूता जगत: प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्जभूम्याम् ।।"

अर्थात् जो समुद्र के मध्य में है जिस परम अक्षर में सारी प्रजा व्याप्त है जिससे सारा जगत उत्पन्न हुआ है उसने ही जल के मध्य से जीवों की पृथिवी पर सृष्टि की है । ऐसा कहकर "तदेवर्त तदुसत्यमाहु: तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" उसे ही विद्वान परम ब्रह्म कहते है ऐसी श्रुति उपलब्ध है ।

आचार्य मध्व ने एकमात्र ब्रह्म की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है । ईश्वर सत्ता तथा कर्तृत्व दोनों ही दृष्टियों से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है । ईश्वर इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का नियंत्रण स्वाधीन रहकर करते है । भगवान ही नियन्ता है । अन्य सभी चेतनाचेतन उसके अधीन है । ईश्वर अखिल ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामी रूप से स्थित रहते हुये उसका शासन करते हैं ।

जगत के संदर्भ में परमात्मा की शक्तियाँ आठ प्रकारकी हैं:- सर्जन, पालन, विनाश, नियति, ज्ञान, आवृत्ति (स्वयं को प्रकाशित करना, बन्धन तथा मोक्ष:-

" उत्पत्तिस्थितिसंहारनियतिज्ञानभावृत्तिः ।

बन्धमोक्षौ च पुरुषाधस्त्वात् स हरिरेकराट् ।" - इति स्कान्दे ।[1]

मध्व ने भी ईश्वर को सगुण, सविशेष, साकार रूप में ही स्वीकार किया है । इन्होंने ईश्वर को पूर्ण, भूमा (संप्रसाद), सत्यस्य सत्यम्, नित्यो नित्यानाम्, चेतनश्चेतनानाम्, सत्ताप्रतीतिप्रवृत्तिनिमित्तम् कहा है:-

" It is Infinite of perfect bliss, the Real of reals the Eternal of eternals the Sentient of all sentients the source of all reality Conciousness and activity in the finite."

आचार्य मध्व ने ईश्वर में दो प्रमुख विशेषताएँ स्वीकार की हैं (1) सर्वगुणपूर्णत्व (2) सर्वदोषगन्धविधुरत्व । इन दो विशेषताओं के कारण ही ईश्वर की जो महानता तथा ऐश्वर्य है वह प्रतिपादित हो जाता है:-

" अतोऽशेषगुणोन्नद्धं निर्दोषं यातदेव हि तावदेवेश्वरो नाम:---।"

इस प्रकार से मध्व ने ईश्वर को पूर्ण, स्वतन्त्र, निःसीम कहा है । ईश्वर, देश काल एवं गुण सभी से परे है । जैसा कि मध्व ने अपने गीता भाष्य में स्पष्ट किया है:-

" देशतः कालतश्चैव गुणतश्च त्रिधा ततिः सा समस्ताहरेरेव---।

-माध्व गीताभाष्य 2.17

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 1/1/2

2- Philosophy of Sri Madhvacharya Page No.59

ईश्वर को निर्गुण कहने में श्रुतियों का तात्पर्य केवल इतना है कि ब्रह्म हेयगुणों से रहित है ।[1] क्योंकि ब्रह्म को निर्गुण कहने वाली श्रुतियाँ भी उसमें अनेक गुणों को स्वीकार करती हैं:-

" एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।"

-श्वेताश्वतर उप. 6,11

और फिर यदि हम ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं तो उसका साक्षात्कार करना असंभव हो जायेगा । जो कि इस बंधन से छूटने के लिये आवश्यक है क्योंकि:-

" सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोप: क्व दृश्यते ? ॥ 3.2.3॥

आचार्य मध्व ने भी ईश्वर को कई रूपों में व्यक्त माना है । अर्थात इन्होंने भी ईश्वर के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा स्वरूपों को स्वीकार किया है । मध्व के अनुसार ईश्वर के ये विभिन्न रूप एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं तथा प्रत्येक स्वरूप अपने आप में पूर्ण हैं । ईश्वर की सभी अभिव्यक्तियों में स्वयं ईश्वर ही विद्यमान रहता है । ये उनका किसी प्रकार का स्वगत भेद नहीं है । ईश्वर के ये सभी रूप शक्ति और गुणों की दृष्टि से समान हैं । कोई एक रूप किसी दूसरे से हीन या श्रेष्ठ नहीं है ।

मध्व के अनुसार ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नही । उपादान कारण तो प्रकृति है । क्योंकि एक सर्वोपरि ज्ञानसम्पन्न ईश्वर से जड़ जगत की उत्पत्ति असंभव है । कारण का गुण कार्य में अवश्य ही अनुवर्तित होता है । यहाँ इनके विचार रामानुज से पृथक हैं क्योंकि रामानुज ने तो ईश्वर को जगत का निमित्तोपादान कारण बताया है ।

हम वेदों के अध्ययन के व्दारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं इस प्रकार उसका स्वरूप ऐसा नहीं है जिसका वर्णन न हो सके । हाँ उसके विषय

में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है । सर्वोपरि ब्रह्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से परे है । जिस प्रकार मेरु के सम्बन्ध में उहापोह होता है उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि जिसकी जैसी सामर्थ्य होती है उतना ही परमात्म विषयक ज्ञान उसे प्राप्त होता है:-

" न तदीदृगिति ज्ञेयं न वाच्यं न च तर्क्यते ।
पश्यंतोऽपि न पश्यन्ति मेरो रूपं विपश्चित: ।।"[1]

इस प्रकार आचार्य मध्व के अनुसार ईश्वर पूर्ण, स्वतन्त्र, सृष्टि के निरपे स्रष्टा, सगुण, ज्ञेय एवं विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने वाले साक्षात् विष्णु ही हैं । सभी वेद एवं श्रुतियाँ एक मात्र विष्णु को ही परम सत्ता स्वीकार करती हैं ।

लक्ष्मी-

लक्ष्मी भगवान की कार्यकरणात्मिका शक्ति है । ये ईश्वर के अधीन है । इनमें नाना रूप धारण करने की सामर्थ्य है । इनका शरीर भौतिक नहीं है । दिव्य विग्रहवती होने से लक्ष्मी "अक्षरा" है । ये भगवान से गुणों में न्यून हैं परन्तु देशकाल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक है । लक्ष्मी अनन्त काल से ईश्वर के वैभव की साक्षी है इसीलिए ये भी परमात्मा के समान नित्य हैं । इनकी सहायता से ही भगवान इस सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं । लक्ष्मी को चेतन प्रकृति भी कहा जाता है । लक्ष्मी ईश्वर के समान सभी प्रकार के बन्धनों से रहित हैं (स्वतन्त्र हैं) इसी से इन्हें नित्यमुक्ता कहा गया है । देशकाल में परमपुरुष के समान व्याप्त होने के कारण लक्ष्मी को समना (na) कहते हैं ।[2] ये केवल परमात्मा के ही बंधन में रहती है,

---

1-

2- पूर्णप्रज्ञभाष्य-4-2-7

से नियत हैं। भविष्यतपर्व के इस श्लोक में लक्ष्मी के पूरे स्वरूप को व्यक्त किया गया है:-

" देशत: कालतश्चैव समा प्रकृतिरीश्वरे ।
स्वत एव परेशस्य सा चोपास्ते सदा हरिम् ।
प्रकृते: प्राकृतस्यापि ये गुणास्ते तु विष्णुना ।
नियता नैव केनापि नियता हि हरेर्गुणा: ।।"[1]

लक्ष्मी निरन्तर परमात्मा की उपासना करती रहती हैं फिर भी परमात्मा के समान अजन्मा, नित्यमुक्ता एवं चेतनाचेतन जगत की सृष्टि स्थिति संहार का नियमन करने में ईश्वर की सहवर्तिनी होना तथा देश एवं काल की दृष्टि से व्याप्त होने के कारण इन्हें "ईश्वरकोटि" में रखा जाता है ।

जीव-

परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण जीव भी नित्य तत्त्व है । मध्व ने अपने द्वैतदर्शन में दोनों की {ईश्वर एवं जीव की} नित्य सत्ता स्वीकार की है । नित्य होने पर भी जीव ईश्वराधीन है । क्योंकि ये परमात्मा से व्याप्य है । ईश्वर समस्त जीवों का अन्तर्यामी रूप से शासन करते हैं । नित्य होते हुये भी इनकी औपाधिक उत्पत्ति होती है:-

" उत्पद्यन्ते चिदात्मानो नित्या नित्यात्परात्मन: ।
उपाध्यपेक्षया तेषामुत्पत्तिरपि गीयते ।।"-इति व्योमसंहितायाम्[2]

अर्थात् उस नित्य परमात्मा से ये नित्य चैतन्य जीव और अनित्य अचेतन प्रकृति उत्पन्न होते हैं । उन सब की औपाधिक उत्पत्ति ही कही गई है ।

आत्मा अणु है:-

1- पूर्णप्रज्ञभाष्य- 4-2-10

2- पूर्णप्रज्ञभाष्य- 2-3-19

" सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुंलोकमभिगच्छत्यमुष्मादिमं लोकमागच्छति

स गर्भों भवति स प्रसूयते स कर्म कुरुते" इति पौष्यायणश्रुत: ।"

अर्थात वह इस शरीर से निकलकर अमुक में जाता है, उस लोक से पुन: इसी लोक में आकर गर्भ में प्रवेश करता है जन्म लेता है कर्म करता है । इस वर्णन से जीवात्मा का अणुत्व निश्चित होता है ।

हृदयस्थ जीव अणु होते हुये भी अपने ज्ञान रूपी गुण के कारण समस्त शरीर में व्याप्त रहता है जैसे कि मलयागिरि चन्दन कि एक बिन्दु शरीर के किसी एक स्थान पर लगाते ही पूरा शरीर शीतल एवं सुगन्धित हो जाता है:-

" अणुमात्रोऽप्ययं जीव: स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति ।

यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्लुष: ।।" इति ब्रह्माण्डे ।[1]

जीव का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है । जीव की शक्ति अति सीमित है परमात्मा के संयमन से ही वह कार्य सम्पादन कर पाता है । जैसे कि बढ़ई किसी विशिष्ट कारीगर के नियंत्रण में ही कार्य करता है वैसे ही जीव में भी दोनों बाते हैं । जीव में कर्तृत्व है किन्तु ईश्वराधीन रहकर ही वह कार्य कर सकता है ।

" कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृति: ।

यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ।।" इति पैडि. श्रुति: ।[2]

अर्थात् कर्तृत्व, करणत्व, स्वभाव, चेतना और धृति जीव में परमात्मा की कृपा से हैं, उनकी उपेक्षा से जीव में इनका अभाव होता है । इस प्रकार

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 2-3-24

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 2-3-41

जीव के प्रत्येक प्रयत्न में प्रेरणा ईश्वर की ही होती है । ईश्वर जीव के प्रयास के अनुरूप ही सहयोग देते हैं इसलिए उनमें विषमता निर्दयता आदि दोष नहीं लगते हैं ।

जीव ब्रह्म का अंश है । अंशत्व के आधार पर ही जीव परमात्मा का भेदाभेद है:-

" पुत्रमातृसखित्वेन स्वामित्वेन यतो हरि: ।
बहुधा गीयते वेदैर्णीवों ऽस्तस्य तेन तु ।।
यतो भेदेन तस्यायमभेदेन च गीयते ।
अतश्चांशत्वमुदिष्टं भेदाभेदौ न मुख्यत: ।।"[1]

अर्थात् पुत्र, भाई, सखा, स्वामी रूप में हरि का उल्लेख किया गया है इससे ज्ञात होता है कि जीव उनका अंश है वे इन रूपों में अपने अंश [जीव] द्वारा व्यवहार करते हैं इसीलिए उनका भेद अभेद रूप में उल्लेख किया गया है । अंशत्व के आधार पर ही उनमें भेदाभेद हैं ।

तथा " पादोऽस्य विश्वा भूतानि " इस वैदिक मन्त्र से भी जीव का अंशत्व निश्चित हो जाता है ।

आत्मा स्वभाव से आनन्दस्वरूप है लेकिन अपने पूर्व कर्मों के कारण भौतिक शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण सुख दु:ख के अधीन है । जब तक यह आत्मा अपनी मलिनताओं से विरहित नहीं होती यह नाना जन्मों में अपनी आकृतियाँ बदलती हुई भ्रमण करती रहती है । आनन्द के समान इसके अन्य सभी गुण

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- :

मोक्ष की अवस्था में व्यक्त होते है:-

" बलमानन्द ओणश्च सहो ज्ञानमनाकुलम् ।

स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद् विभो: ।।"[1]

अर्थात् बल, आनन्द, ओज और अखण्ड ज्ञान जीव के अपने स्वरूप में ही हैं जो कि विभु परमात्मा के योग से प्रकट होते हैं ।

आचार्य मध्व ने भी जीव बाहुल्य को स्वीकार किया है । इन्होंने जीवों की अनेक कोटियाँ निर्धारित की हैं । प्रमुख रूप से दो प्रकार के जीव हैं §1§ मुक्त §2§ बद्ध ।

मुक्त जीवों की भी तीन कोटियाँ हैं:-

§1§ देव §2§ ऋषि §पितर§ §3§ नर । इसमें से देवता सर्वप्रकाश होते है ऋषि या पितृगण अन्त:प्रकाश होते हैं एवं मनुष्य बहि प्रकाश होते हैं ।

" अन्त:प्रकाशा: बहि: प्रकाशा: सर्वप्रकाशा:, देवा वाव ।

सर्वप्रकाशा: ऋषयो न्त:प्रकाशा:, मनुष्या एवं बहि:प्रकाशा:"

-इति चतुर्वेदशिखायाम् ।[2]

बद्ध जीव भी तीन प्रकार के हैं:-

§1§ मुक्ति योग्य-

ये आत्माएँ अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण मोक्ष प्राप्ति के लिए पहले से निश्चित है । सात्त्विक आत्मा स्वर्ग को प्राप्त करती है ।

§2§ नित्यसंसारिण-

ऐसे जीव अनादि काल से अनन्त काल तक संसार चक्र में घूमते रहते हैं ।

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 2-3-31

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-3-16

इस अन्त रहित क्रम में कभी सुख तो कभी दुःख भोगते हैं । ऐसी आत्माएँ राजस गुण वाली हैं ।

(3) तमोयोग्य-

तमोगुणी आत्मा नरक में जाती है ।

कोई भी दो जीव स्वरूप में एक समान नहीं होते हैं । प्रत्येक जीव अपना वैशिष्ट्य बनाये हुये पृथक रहता है । जीव का यह भेद मुक्तावस्था में भी विद्यमान रहता है । मुक्त पुरुष आनन्द का अनुभव करता है परन्तु उसकी आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य रहता है । जीव की अणुता भी मुक्तावस्था में बनी रहती है ।

" मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि ।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ।।" मध्व गीता भाष्य ।

जीव का ईश्वर से सम्बन्ध-

शास्त्रों में जीव की ईश्वर के ऊपर आध्यात्मिक निर्भरता को अनेक संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है । यथा रूप-प्रतिरूप, अंशांशि, छाया-पुरुष, शरीर-शरीरी, अग्निस्फुलिङ इत्यादि । आचार्य मध्व ने जीव ब्रह्म सम्बन्धी इन विचारों को उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया है जिस अर्थ में शंकर तथा रामानुज आदि आचार्य स्वीकार करते हैं । मध्व ने जीव के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रूप सम्बन्ध को ऋग्वेद से ग्रहण किया है:-

" रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।" (ऋग्वेद 7,47,18)

मध्वाचार्य इस सम्बन्ध को जीव तथा ब्रह्म के नित्य सहवर्तित्व के आधार पर स्वीकार करते हैं । क्योंकि जीव अपने अस्तित्व, चैतन्य एवं सक्रियता के लिए ब्रह्म के ऊपर आश्रित है । ईश्वर जीव में विद्यमान सत्ता,

चैतन्य तथा क्रियाशीलता के एकमात्र स्वतन्त्र स्त्रोत है । जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जीव ईश्वर का उस प्रकार का प्रतिबिम्ब नही है जैसा कि दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब नही है जैसा कि दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है । क्योंकि जीव का कभी भी निषेध नहीं होता जबकि दर्पण को हटा देने पर उसमें दृष्टिगोचर होने वाला प्रतिबिम्ब भी समाप्त हो जाता है । इसीलिए मध्व जीव प्रतिबिम्ब भाव में कोई बाह्योपाधि स्वीकार नहीं करते हैं । इसके विपरीत आचार्य शंकर जीव को अविद्या के कारण दृष्टिगोचर होने वाला ब्रह्म का मिथ्या प्रतिबिम्ब कहते हैं जिसका ज्ञानावस्था में निषेध हो जाता है:-

" जीवत्वं च मृषा ज्ञेयं रज्जवां सर्पग्रहो यथा ।" ॥शंकर अपरोक्षानुभूति, 43॥

इस प्रकार शंकर जीव के प्रतिबिम्ब भाव में अविद्या की उपाधि को स्वीकार करते हैं यही शंकर तथा मध्व व्दारा स्वीकृत बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में अन्तर है ।

मध्व शास्त्रों में प्रयुक्त अन्य सम्बन्धों की भी व्याख्या करते हैं जैसे छाया-पुरूष:-

" यथैषा पुरूषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम् ।" ॥प्रश्न उप0 3, 3॥

छाया दो दृष्टियों से पुरूष के अधीन है ॥1॥ सादृश्य ॥2॥ अस्तित्व । जैसा पदार्थ होगा लगभग उसी के समान छाया होगी तथा पदार्थ की उपस्थिति में ही छाया का अस्तित्व है अर्थात वो दिखायी पड़ती है । यदि व्यक्ति अदृश्य हो जाये तो छाया भी समाप्त हो जायेगी । इसी प्रकार जीव कुछ अंशों में ईश्वर के समान है तथा अपने अस्तित्व के लिए उसके अधीन है । अंशांशि भाव से भी इन्हीं विचारों की पुष्टि होती है ।

जीव तथा ब्रह्म बिल्कुल एक जैसे नही है । जीव प्रत्येक दृष्टि में भगवान से न्यून है । इसीलिए मध्व ने छाया पुरूष या बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का

उदाहरण दिया है । क्योंकि जो पुरूष है बिल्कुल वही चीज छाया नहीं हो सकती । पुरूष चेतन है छाया जड़ है । उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वगुण सम्पन्न तथा सर्वज्ञ है लेकिन जीव अल्पज्ञ है । मध्व जीव को साधारण प्रतिबिम्ब से पृथक तरह का मानते हैं । क्योंकि दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में पर्याप्त अन्तर होता है । " नाति साम्यं निदर्शने ।" साधारण प्रतिबिम्ब तथा जीव की प्रतिबिम्बरूपता के अन्तर के उन्होंने तीन आधार प्रस्तुत किये है:-

§1§ जीव के प्रतिबिम्ब होने में कोई बाह्य उपाधि नहीं है जबकि दर्पणगत प्रतिबिम्ब में दर्पण रूप उपाधि की आवश्यकता होती है ।

§2§ दर्पण रूप उपाधि के न रहने पर प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है जबकि जीव का कभी भी निषेध नहीं होता है ।

§3§ जीव जड़ नही है जबकि सामान्य रूप प्रतिबिम्ब जड़ होता है ।

इस प्रकार मध्व ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध की व्याख्या बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में करते हैं ।

जीव का बन्धन-

मध्व के अनुसार जीव अनादिकाल से ईश्वराधीन होकर इस प्रप च में संसरण करते हैं । प्रत्येक महाप्रलय की समाप्ति पर ईश्वर उन्हें सृष्टि में प्रादुर्भूत करते हैं । इसमें ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नही है । भगवान केवल उपभोग के व्दारा स चित कर्मराशियों का क्षय करने के लिए उन्हें ये अवसर प्रदान करते हैं । जीवात्मा के कर्मों के परिपाक एवं जीव के पूर्ण विकास के लिए ही सृष्टि की अनिवार्यता है । जब जीवात्माओं को आध्यात्मिक विकास समुचित रूप से हो जाता है तब वे आत्मज्ञान अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार मध्व जीवों का अनादिकाल से ससीम अस्तित्व और उन पर ईश्वर की प्रभुता को स्वीकार करते हैं ।

सृष्टि के प्रारम्भ में सभी कोटियों के जीव प्रकृति के गर्भ से बाहर आते हैं और आत्मोन्नति तथा विकास के लिए प्रयत्न करते हैं । ईश्वर करूणावश उन्हें विकास के समुचित अवसर प्रदान करते हैं । यही सृज्यासृष्टि कहलाती है ।

जीवात्माओं के बन्धन का प्रारम्भ ईश्वर की उस शक्ति के कारण होता है जिसके कारण जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप का आवरण हो जाता है तथा जीव को अपने तथा ईश्वर के सम्बन्ध का वास्तविक ज्ञान भी नहीं रह जाता है । मध्व के द्वारा स्वीकृत यह शक्ति श्रीकंठ को मान्य परमेश्वर की तिरोधान शक्ति के समान है ।

सृष्टि में आने पर प्राकृतिक बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि के साथ होने वाला जीव का अनादि सुदृढ़ एकात्मभाव ही उसके बन्धन का कारण है । यद्यपि इस एकात्मता में आरोपण का अंश अवश्य है किन्तु यह आरोपण सत् असत् का पारस्परिक सम्बन्ध न होकर घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण एक ऐसी वस्तु का आरोपण है जो अपने आप में वास्तविक है । प्रकृति के इन धर्मों के साथ जीवात्मा के इन सम्बन्धों की परिसमाप्ति ईश्वर की कृपा से ही संभव है जिसे जीव अपनी साधना से अर्जित करता है ।

जीवात्मा का इस प्रकार बन्धनग्रस्त होना ईश्वर की क्रूरता को सिद्ध नहीं करता है । यह जगन्नियन्ता की इच्छा ही है कि जीवात्मा अपने स्वरूप का साक्षात्कार इसी प्रक्रिया से करे तथा ईश्वर की इच्छा को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि वह सत्य संकल्प है ।

जीव का बन्धन परिकल्पित न होकर वास्तविक है । मध्व ने स्पष्ट कहा है कि स्वयं प्रकाश जीवात्मा में भी परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर तथा स्वधर्म विषयक अज्ञान सर्वथा संभव है " स्वप्रकाशस्यापि जीवस्य परमेश्वरेच्छया परमेश्वरे, स्वधर्मेषु च अज्ञानं संभवत्येव ।"[1] जीव का यह अज्ञान भी वास्तविक है । क्योंकि मध्व के अनुसार जो भी प्रमा का विषय हो वह वास्तविक है ।[2]

चूँकि बन्धन प्रमाण का विषय बनता है इसलिए वह वास्तविक है । यदि ईश्वर चाहें तो इस वास्तविक बन्धन का निराकरण भी संभव है:- " तथा विधस्यापि बन्धस्य निवृत्तिं वक्ष्याम: ।"[1] यह ईश्वर का विशिष्ट सामर्थ्य है ।

सभी वेदान्ताचार्यों में एकमात्र मध्व ही ऐसे हैं जो सृष्टि में ईश्वर का कोई प्रयोजन स्वीकार करते हैं । यद्यपि मध्व भी ईश्वर को आप्तकाम मानते हैं तथापि जीवात्माओं के प्रति ईश्वर की परोपकार भावना को वह उनके व्दारा जीव जगत की सृष्टि का प्रयोजन मानते हैं ।

जीवात्मा को अपनी ईश्वराधीनता इत्यादि धर्मों का ज्ञान नहीं होता इसी से मध्व जीवात्मा के बन्धन सम्बन्धी अपने सिद्धान्त को स्वभावज्ञानवाद की संज्ञा देते हैं । " स्वस्य भावो धर्म: पारतंत्र्यादि:, तव्दिषयकमज्ञानं जीवस्य इति वाद: स्वभावज्ञानवाद: ।"[2]

इस प्रकार ईश्वर और अपने स्वरूप का तथा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के स्वरूप का जो अज्ञान उसे ही मध्व जीव के बन्धन का कारण मानते हैं तथा यह अज्ञानोत्पत्ति भी ईश्वरेच्छा के अधीन है ।

प्राकृतिक जगत-

यद्यपि प्रकृति एक रूप प्रतीत होती है तो भी वस्तुत: यह भिन्न-भिन्न तत्त्वों (जो सूक्ष्म अवस्था में है) से मिलकर बनी है । जब ईश्वर तथा जीव इसका प्रयोग करते हैं तो यही विकसित होकर दृश्यमान जगत के रूप में परिवर्तित हो जाती है । प्रकृति ही सृष्टि का उपादान कारण है और इसकी सहायता से ही ईश्वर नाना आकृतियों की रचना करता है । प्रकृति के व्दारा निर्मित इस नानारूपात्मक जगत में ईश्वर अन्तर्यामी रूप से निवास करता है ।

---

1 न्याय सुधा- पृ0 64

सृष्टि के समय ईश्वर किसी न किसी प्रकार से प्रकृति में शक्ति का संचार करता है जबकि प्रकृति ईश्वर के व्यक्तित्व का कोई अंश नहीं है तथा प्रकृति भी किसी न किसी प्रकार से अपने को ईश्वर के नियन्त्रण में दे देती है। इस प्रकार प्राकृतिक जगत की रचना होती है।

इससे पूर्व कि हम अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि के सुपरिष्कृत आकारों तक पहुँचे हमें परिवर्तन काल के मध्यवर्ती 24 पदार्थों में से गुजरना होता है। ये 24 पदार्थ हैं:- महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियों के विषय और पाँच महत्त तत्व। ये चौबीसों अपने विकास से पूर्व आध मूलभूत प्रकृति के अन्दर सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं।

अविद्या प्रकृति का ही एक रूप है। इसके दो भेद है ॥1॥ जीवाच्छादिका- यह जीव के आध्यात्मिक शक्तियों को आवृत कर लेती है ॥2॥ परमाच्छादिका- यह सर्वोपरि सत्ता अर्थात् ईश्वर को जीव की दृष्टि से दूर रखती है। अविद्या के ये दोनों रूप प्रकृति के सारतत्व से ही बने हैं।

प्रमेय तत्वों की चर्चा के बाद अब मध्व व्दारा स्वीकृत प्रमाणों के स्वरूप पर विचार करना उचित होगा।

प्रमाणत्रय-

मध्वाचार्य ज्ञान के साधनभूत तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण। मध्व उपमान प्रमाण को अनुमान की ही कोटि में रखते हैं। इनमें से प्रत्यक्ष प्रमाण केवल इन्द्रियगोचर विषयों का ही ज्ञान करा सकता है तथा अनुमान हमें कोई तथ्य नहीं दे सकता है जबकि अन्य साधनों से प्राप्त हुये तथ्यों की परीक्षा करने तथा उन्हें क्रमबद्ध करने में यह सहायता अवश्य करता है। यथार्थ सत्ता के वास्तविक ज्ञान के लिए हमें वेदों का ही आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि वेद अपौरूषेय हैं। आचार्य मध्व भी अपौरूषेय

कृति को ही प्रामाणिक तथा पौरूषेय कृति को अप्रामाणिक स्वीकार करते हैं । इसी से इन्होंने शब्द प्रमाण को ही प्रमुख बताते हुये अपने भाष्य में उद्धरण प्रस्तुत किया है:-

" श्रुतिसाहाय्यरहितं अनुमानं न कुत्रचित् ।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च ।।
श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम् ।
प्रमाणपदवीं गच्छेद् नात्र कार्या विचारणा ।।"[1]

अर्थात् श्रुति की सहायता के बिना कहीं भी अनुमान सही नहीं उतरता । श्रुति ही निश्चित करती है तभी अन्य प्रमाण सही उतरते हैं । श्रुति और स्मृति की सहायता से जो प्रमाण मेल खाता है वही प्रमाण कहला सकता है यह निश्चित बात है ।

मोक्ष का स्वरूप-

साधना के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर अप्रारब्ध एवं संचित कर्माशयों का क्षय हो जाता है । क्रियमाण कर्मों के संस्कार भी नहीं बनते हैं । केवल प्रारब्ध कर्मों का नाश भोग के पश्चात् ही संभव है । किन्तु प्रारब्ध शुभाशुभ कर्मों के भोगों की तीव्रता कम अवश्य हो जाती है । इस प्रकार साधक प्रारब्ध कर्मों के भोग के पश्चात् ईश्वर को प्राप्त कर सकता है ।

मुक्त जीव परम ज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है । " परं ज्योतिरूपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । मोक्षावस्था दु:ख, वासना, कष्ट से रहित एवं आनन्द से युक्त है । इस अवस्था में किसी प्रकार के भौतिक सुख की कल्पना नहीं की जा सकती । इसमें अनुभूत आनन्द कभी भी क्षीण नहीं होता:-

" विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्मं अनृतं न माया चेति ।"

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 1-1-3

मुक्त जीव का अपना व्यक्तिगत चैतन्य बना रहता है । उसे यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है तथा सभी प्रकार के दुःखों से रहित है:-

" आजन्ममरणं स्मृत्वा मुक्ता हर्षमवाप्नुयुः ।"

मोक्ष में भोगों की चर्चा करते हुये कहते हैं कि मुक्त जीव को ही मोद, प्रमोद, आनन्द की प्राप्ति होती है । परमात्मा के ही भोगों का उपभोग मुक्त जीवों व्दारा भी होता है:-

" यानेवाहं श्रृणोमि, यान् पश्यामि, यान् जघ्रामि तानेवैत इदं शरीरं विमुच्यानुभवन्ति" इति दृष्टत्वाच्चतुर्वेद शिखायाम् ।"[1]

अर्थात् मैं जिन मनोरम शब्दों को सुनता हूँ, जिनको देखता हूँ तथा जिस को सूँघता हूँ उन्हें ही वे मेरे भक्त शरीर से छूकर अनुभव करते हैं ।

मोक्ष में चिन्मात्र से ही सब कुछ करने की बात स्वीकार की गई है:-

" मर्त्यं देहं परित्यज्य चितिमात्रात्मदेहिनः ।

चितिमात्रेन्द्रियाश्चैव प्रविष्टा विष्णुमव्ययम् ।।

तदङ्गानुगृहीतैश्च स्वाङ्गैरेव प्रवर्तनम् ।।

कुर्वन्ति भुञ्जते भोगांस्तदन्तर्बहिरेव वा ।

यथेष्टं परिवर्तन्ते तस्यैवानुग्रहेरिताः ।।" इति नारायणाध्यात्मे च ।[2]

अर्थात् मर्त्य शरीर को छोड़कर चैतन्यमात्र शरीर चैतन्यमात्र इन्द्रियों से अव्यय विष्णु में प्रविष्ट होकर उन्हें के अंगों व्दारा अपने अंगों का कार्य करते हुये बाह्यान्तर भोगों को भोगते हैं । प्रभु के अनुग्रह से यथेष्ट कामोपभोग करते हैं ।

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य-4-4-4

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य-4-4-7

मुक्त जीव स्थूल एवं चिन्मात्र सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से भोगानुभूति करते हैं। जैसे कि व्दादशाह यज्ञ क्रियात्मक तथा सन्नात्मक दोनों ही रूपों में सम्पन्न होता है:- ब्रह्मवैवर्ते च-

" स्वप्नस्थानां यथा भोगो विना देहेन युज्यते ।
एवं मुक्तावपि भवेद् विना देहेन भोजनम् ।।
स्वेच्छया वा शरीराणि तेजोरूपाणि कानिचित् ।
स्वीकृत्य जागरितवद्भुक्त्वा त्यागः कदाचन ।।"इति ।[1]

अर्थात् जैसे कि स्वप्नावस्था में बिना शरीर के ही भोगानुभूति होती है वैसे ही मुक्त जीव भी बिना शरीर के भोगानुभूति करते हैं तथा मुक्त जीव स्वेच्छा से तेज रूप शरीर धारण करके जागरित अवस्था की तरह भोग करके उस शरीर को छोड़ देते हैं। इनकी इस शरीर से किसी प्रकार आसक्ति नहीं होती है इसी से मुक्त जीव केवल सुखों को ही प्राप्त करते हैं दुःख से उनका कोई स्पर्श नहीं रहता है। मुक्तावस्था के भोग सृष्टि के भोगों से भिन्न दिव्य प्रकार के होते हैं।[2]

मुक्त जीव सत्य संकल्प वाले हो जाते हैं:- " स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पा देवास्य पितरः समुतिष्ठन्ति" इत्यादिश्रुतेः ।"[3]

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-4-14

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-4-17

3- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-4-8

किन्तु जीव में ईश्वर का सामर्थ्य नहीं होता है:-

वराहे च-

" स्वाधिकानन्दसंप्राप्तौ मुक्तानामिच्छयापि हि ।

मुक्तानां नैव कामः स्यादन्यान् कामांस्तु भुंजते ।।

तद्योग्यता नैव तेषां कदाचित् क्वापि विद्यते ।

न चायोग्यं विमुक्तोऽपि प्राप्नुयान्न च कामयेत ।।" इति[1]

अर्थात् परमात्मानन्द की प्राप्ति में भी जीवों के कर्मों का आवरण तदस्थभाव में रहता है, उन्हें जागतिक कामनाएँ तो नहीं सताती वे अन्यान्य कामनाओं का भोग करते हैं, उनमें परमात्मा का सा सामर्थ्य नहीं हो पाता, विमुक्त होते हुये भी बिना भगवत्कृपा के स्वतः अभिलषित कामनाओं को नहीं भोग पाते ।

मुक्त जीवों के आनन्द आदि का वृद्धि या ह्रास भी नहीं होता है:-

" यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते हीयते

यत्र गत्वा न वर्धते ।" इति मोक्षधर्मे ।[2]

जीव मुक्त होकर भी सदैव ईश्वर की आराधना करते रहते हैं क्योंकि मुक्त जीवों का परमात्मा के साथ केवल भोग का ही साम्य रहता है अन्य दृष्टियों से ईश्वर की अपेक्षा उसकी न्यूनता तथा उनका ईश्वराधीनत्व इत्यादि पूर्ववत् बना रहता है । जीव स्वामीसेवक भाव से ईश्वर की उपासना में लीन रहते हैं । यही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है ।

" मोक्ष के साधन"

आचार्य मध्व के दार्शनिक सिद्धान्त के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् उनके द्वारा स्वीकृत मोक्ष के साधनों के स्वरूप पर व्यापक दृष्टि डालना आवश्यक है । क्योंकि इस प्रबन्ध का उद्देश्य ही मोक्ष की साधनभूता भक्ति की व्याख्या

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-4-18

करना है ।

परम्परानुसार मध्व ने भी मोक्ष की प्राप्ति में कर्म, ज्ञान, भक्ति इन्हीं तीनों प्रकार के साधनों की आवश्यकता स्वीकार की है । कर्म को ज्ञान का साधन एवं सहयोगी मानकर दोनों का परस्पर पूरक रूप से विवेचन किया है । इसलिए अब कर्म और ज्ञान की व्याख्या संयुक्त रूप से की जायेगी ।

<u>मोक्ष प्राप्ति में कर्म और ज्ञान की भूमिका-</u>

आचार्य मध्व ने ज्ञान और भक्ति के लिए शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड के सम्पादन पर बल दिया है । सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए वैष्णव चिह्नों से शरीर को चिह्नित करना, अपने पुत्रों तथा अन्य परिजनों को प्रभुवाचक नाम देना और श्री विष्णु की अर्चना करना तथा मन, वचन, कर्म से भगवत्परायण होना आवश्यक है । मध्व ने सत्यभाषण, सद्ग्रन्थविचार, दान-दक्षिणा तथा दया और प्रभु पर विश्वास आदि गुणों पर विशेष बल दिया है । दैवीय कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है । आचार्य ने वेदोक्त यज्ञादि के सम्पादन तथा तीर्थ यात्रा आदि का भी समर्थन किया है । ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालता है । तप आदि के ज्ञानाङ्ग रूप से ही अनुष्ठेय बतलाया है । यद्यपि मोक्ष ज्ञान के अधीन है फिर भी ज्ञानी शमदमादि साधनों से सम्पन्न होता है:-

> " आचार्याद् विद्यामवाप्यैतमात्मानं अभिपश्यन् शान्तो भवेद् दान्तो भवेदनुकूलो भवेदाचार्यं परिचरेत् परिचरेदाचार्यम्" इति माठरश्रुतौ ज्ञानिनोऽपि तदविधेः ।"[1]

इस विवेचन में मोक्ष को ज्ञानाधीन बताने में आचार्य मध्व की समदृष्टि का परिचय मिलता है । यद्यपि सभी आचार्यों ने कर्म, ज्ञान एवं भक्ति को मोक्ष

का साधन स्वीकार करने में इन तीनों के मध्य सीमा रेखाएँ खींच दी है, कुछ ने ज्ञान को श्रेष्ठ कहा है तो कुछ ने भक्ति को । जबकि आचार्य मध्व ने ज्ञान और भक्ति को तथा कर्म एवं ज्ञान को या परस्पर तीनों को एक दूसरे का पूरक बताया है इसी से इनके द्वारा की गई साधनो की व्याख्या में कभी एक [भक्ति] अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है तो कभी [ज्ञान] दूसरा । हालाँकि अन्त में इन्होंने भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जो आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा ।

कर्म के महत्त्व को दर्शाते हुये इन्होंने कहा है कि वर्णाश्रम विहित कर्म को करने से ही ज्ञान पूर्ण होता है । ज्ञान में कर्म की सहकारिता उसी प्रकार आवश्यक है जैसे कि कोई यात्रा पूर्ण करने के लिए घोड़ा आदि सवारी की अपेक्षा होती है बिना उसके गन्तव्य स्थान तक पहुँचना कठिन होता है वैसे ही ज्ञानोत्पत्ति में यज्ञ, दान आदि की अपेक्षा होती है:-

" सर्वधर्मापेक्षा च ज्ञानस्योत्पत्तौ विविदषन्ति यज्ञेन, दानेन तपसानाशकेन" इति श्रुतौ ।"[1]

इस प्रकार मध्व वेदोक्त और शास्त्रोक्त कर्मों के सम्पादन के साथ-साथ वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठानों को ज्ञान की उत्पत्ति एवं पुष्टता में सहायक मानते हैं ।

मध्वाचार्य ने जिस प्रकार कर्म को ज्ञान का पूर्वापेक्षी माना है उसी प्रकार भक्ति के लिए ज्ञान की उपस्थिति भी अनिवार्य रूप से स्वीकार की है । वेदों के अध्ययन से हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । इसके लिए एक उपयुक्त गुरू की आवश्यकता होती है । प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात् करने की क्षमता रहती है । ज्ञान सम्पन्न गुरू को चाहिए कि वह शिष्य के इस सामर्थ्य के अनुकूल ही शिक्षा दे क्योंकि जिस भगवत् स्वरूप के प्रत्यक्षानुभव

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 3-4-26

के योग्य जो साधक है उसी स्वरूप की साधना के द्वारा उसे मोक्ष लाभ होता है ।

बिना भगवत्कृपा के मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है तथा भगवान के स्वरूप और माहात्म्य ज्ञान के बिना उनकी कृपा मिलनी असंभव है । इस प्रकार भक्ति के स्वरूप में ज्ञान की पूर्वापेक्षा सुनिश्चित होती है । भगवान ने गीता में स्वयं कहा है:-

" प्रियो हि ज्ञानिनो त्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।।"

चूँकि भक्ति का कार्य जीव तथा ब्रह्म के वास्तविक सम्बन्ध को प्रकट करना है इसलिए जीव ब्रह्म के इस सम्बन्ध को ठीक प्रकार से समझ लेना व्यक्ति के लिए स्वाभाविक रूप से अनिवार्य है । ऐसा तभी संभव है जब हमें एक स्वतन्त्र और निरपेक्ष परम सत्ता के रूप में ईश्वर की भव्यता तथा महानता की जानकारी हो ।

भक्ति उसी प्रकार से ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिस प्रकार ज्ञान की यात्रा में भक्ति की उपस्थिति अनिवार्य है:-

" बिना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं बिना च तद् ?"[1]

ज्ञान को भक्ति के एक घटक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है । आगे भक्ति की व्याख्या करते समय इसे अधिक स्पष्ट किया जायेगा ।

यद्यपि मध्व ने मोक्ष के लिए ज्ञान के महत्त्व को अनिवार्यरूप से स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने अपने मुक्ति विषयक सिद्धान्त में सर्वोच्च स्थान भगवत्कृपा को ही दिया है ।[2] यह भगवत्कृपा ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान एवं उनकी अनन्या

1- मध्व गीता भाष्य- 9,31

2- Philosophy of Sri Madhvacarya - B.N.K. Sharma P.3:

भक्ति के व्दारा ही प्राप्ति होती है इसी से अपने भाष्य में उन्होंने कहा है कि:-

" यतो नारायणप्रसादमृते न मोक्षः न च ज्ञानं विना
अत्यर्थप्रसादः अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या ।"[1]

ज्ञान के अधिकारी के विषय में मध्व का सिद्धान्त बहुत ही उदार है । उन्होंने उन सभी व्यक्तियों को वेदान्त के अध्ययन का अधिकार दिया है जो उसे समझ सकते हैं तथा उन्होंने ये भी कहा कि जो भगवान के भक्त हैं उन्हें ही उनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है:-

" अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः ।
स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तत्रज्ञाने धिकारिणः ।।"-व्योमसंहितायां च[2]

इस प्रकार से उन्होंने रामानुज के व्दारा स्वीकृत वर्ण भेद के आधार पर किये गये ज्ञानाधिकार के विभाजन का विरोध किया है और योग्यता के आधार पर ज्ञान प्राप्ति के अधिकार की प्रतिष्ठा की है ।

भक्ति का सिद्धान्त-

मध्व ने अपने सिद्धान्त में आत्मज्ञान एवं परमात्मज्ञान के साधन के रूप में भगवत्कृपा को ही सर्वोच्च स्थान दिया है । यह भगवदनुग्रह केवल भक्ति के व्दारा ही संभव है । भक्ति ईश्वर के प्रति अत्याधिक स्नेह तथा ईश्वर की महानता तथा भव्यता की स्पष्ट समझ पर आधारित है । भक्ति तत्व को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें मध्व के सिद्धान्त में स्वीकृत भक्ति की परिभाषा पर विचार करना

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 1-1-1

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 1-1-1

चाहिए:-

" परमेश्वरभक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वपूर्वक:
स्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्यो ऽनन्तगुणाधिको ऽन्तरायसहस्त्रेणा-
प्यप्रतिबद्ध: निरन्तरप्रेमप्रवाह: ।" [न्यायसुधा, पृ0 17]

जयतीर्थ द्वारा दी गई इस परिभाषा के अनुसार भक्ति भगवान के प्रति वह निरन्तर सुदृढ़ प्रेमप्रवाह है जो कि सभी प्रकार के विघ्नों से अबाधित है यह प्रेम प्रवाह जीव का स्वयं के प्रति, आत्मीयजनों के प्रति और प्रिय वस्तुओं के प्रति जो प्रेम है उसका अतिक्रमण करता है । यह प्रेम सर्व प्रकारेण पूर्ण तथा सर्वदोष रहित ईश्वर की अतुलनीय भव्यता एवं महानता तथा अन्य समस्त वस्तुओं की ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता के प्रति सुदृढ़ विश्वास के द्वारा पोषित होता है ।

आचार्य मध्व ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिए पद्मपुराण की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं:-

" महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।
तथैव व्यज्यते सम्यक् जीवरूपं सुखादिकम् ।।" [इतिपाद्मे][1]

अर्थात् स्नेहपूर्वक की गई महत्त्वबुद्धि को ही भक्ति कहते हैं उसी से जीव के सुखादि रूपों की अभिव्यक्ति होती है ।

और भी

" माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिक: ।
स्नेही भक्तिरिति प्रोक्त: तथा मुक्तिर्न चान्यथा ।।"[2]

इन सभी परिभाषाओं में ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान तथा उनके प्रति सुदृढ़

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 3-2-19

2- महाभारत तात्पर्य निर्णय- 1,86

प्रेम ¥स्नेह¥ इन्हीं दो तत्वों पर विशेष बल दिया गया है । लेकिन इसके अतिरिक्त और भी महत्वपूर्ण तत्वों की उपस्थिति भक्ति के लिए अनिवार्य है जिसका वर्णन अब किया जायेगा ।

¥1¥ भगवत्कृपा-

मुक्तिदायिनी भगवत्कृपा ही उत्तम है । बिना ईश्वर की कृपा के भक्ति संभव ही नहीं है । श्रवण, मनन आदि भगवद् सम्बन्धी कर्मों से भगवत्कृपा प्राप्त होती है । मनुष्य स्वयं भी बन्धन से छूटने के योग्य नहीं होता है । यह केवल ईश्वर की कृपा के व्दारा ही संभव है । पुण्य कर्मों के किसी विचार से भी ईश्वर बाध्य नहीं होता । वह केवल मात्र कुछ जीवों को ही मोक्ष प्राप्ति के लिए तथा अन्यों को विरोधी अवस्था के लिए चुन लेता है । ईश्वर का इस प्रकार का चुनाव स्वेच्छापूर्ण, अनुपाधिक तथा निराधार नहीं है । यद्यपि किन्हीं अर्थों में आत्मा की स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ ब्रह्म के व्दारा ही उत्पन्न होती है जैसा कि कूर्मपुराण के इस वचन से स्पष्ट है:-

" मूर्च्छा प्रबोधनं चैव यतं एव प्रवर्तते ।

स ईशः परमो ज्ञेयः परमानन्दलक्षणः ।।"इति कौर्मे[1]

अर्थात् मूर्च्छा प्रबोध जिससे होते है वे परमज्ञेय परमानन्द स्वरूप परमात्मा ही है । तो भी यह मानी हुई बात है कि प्रभु की कृपा भी हमारी उसकी भक्ति के अनुपात में ही प्राप्त होती है । ईश्वर की कृपा उपासक के विश्वास के अनुकूल ही होती है ।

मध्वाचार्य का विचार है कि प्रत्यक्ष, अनुमान दोनों ही प्रमाणों से उस ईश्वर का दर्शन नही हो सकता एकमात्र उनकी कृपा से ही उनका प्रकाश मिलता है । इसलिए ब्रह्म साक्षात्कार या मोक्ष के लिए भगवत्कृपा ही प्रथम आवश्यकता

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 3-2-10

है:-

" नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तित: ।

तमृते परमात्मानं क: पश्येतामितं प्रभुम् ।।" इति नारायणाध्यात्मे[1]

नित्य अव्यक्त होते हुये भी भगवान अपनी ही शक्ति के कारण प्रकाशित होते हैं । उनकी कृपा के बिना भला परमात्मा को कौन देख सकता है ? अर्थात भगवत्कृपा ही साक्षात् रूप से मुक्तिदायिनी है । यही मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है:-

" कर्मणा त्वधम: प्रोक्त: प्रसाद: श्रवणादिभि: ।

मध्यमो ज्ञानसम्पत्या प्रसादस्तूत्तमो मत: ।।"[2]

अर्थात् कर्मशक्ति को अधम कहा गया है श्रवण, मनन आदि ईश्वर संबंधी कर्मों से ही उनकी कृपा प्राप्त होती है । भगवद् सम्बन्धी ज्ञान हो जाना मध्यम कोटि का प्रयास है । उनका प्रसाद प्राप्त हो जाना ही उत्तम माना गया है ।

वास्तव में मध्व ने ईश्वरीय कृपा एवं भक्ति को एक दूसरे का पूरक स्वीकार किया है । बिना हरि की कृपा के भक्ति संभव नही है तथा भक्ति के अनुरूप ही ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है ।

माहात्म्य ज्ञान-

भक्ति केआवश्यक तत्वों में दूसरा नाम ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान का है । क्योंकि अन्धी या अज्ञानजन्य भक्ति का कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है । भक्ति अपने लक्ष्य(ईश्वर) के सम्पूर्ण गुणों औरउनकी महानता के निश्चित एवं पूर्ण ज्ञान के आधार पर ही अर्थपूर्ण तथा न्यायसंगत सिद्ध होती है:-

" ज्ञानपूर्व: पर: स्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते ।"[3]

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 3-2-27

2- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 1-1-1

3- महाभारत तात्पर्य निर्णय-1, 107

भगवान के स्वरूप ज्ञान के बिना उनकी कृपा भी संभव नहीं है । इसीलिए तो महर्षि बादरायण ने " अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र की रचना की । अन्य अनेकों श्रुतियों में ब्रह्म विषयक ज्ञान की महत्ता स्वीकार की गई है:-

" तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्य: पन्था विद्यते अयनाय"

तथा

" आत्मवाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।"

ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता तथा उनके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है । अपने तत्त्वविवेक नामक ग्रन्थ में मध्व ने कहा है कि जो व्यक्ति ईश्वर के अधीन रहने वाली तथा अन्तवान इस सृष्टि के रहस्य को समझ लेता है वह इस संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

ज्ञान भक्ति का घटक तत्त्व है । वास्तविक भक्ति ज्ञान और प्रेम का समन्वित रूप है । इसीलिए शास्त्रों में अनेक बार भक्ति को ही ज्ञान कहकर उल्लिखित किया गया है:-

" ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात् भक्तिर्ज्ञानमितीर्यते ।
ज्ञानस्यैव विशेषो यत् भक्तिरित्यभिधीयते ।।
परोक्षत्वापरोक्षत्वे विशेषौ ज्ञानगौ यथा ।।"-[अनुव्याख्यान 3,4,41]

जब कभी ज्ञान में सगुम्फित प्रेम के विशिष्ट तत्त्व पर बल देना होता है तब ज्ञान और भक्ति के इस एकीकृत रूप को ही भक्ति कह दिया जाता है । किन्तु ज्ञान और भक्ति ठीक उसी तरह एक ही तत्त्व के दो पक्ष है जैसे परोक्षत्व और अपरोक्षत्व ज्ञान के अविभाज्य अंग होते हैं । शास्त्रों में ज्ञान को जहाँ कहीं भी मुक्ति का साधन बतलाया गया है वहाँ ज्ञान में ही प्रेम पक्ष का अन्तर्भाव समझना चाहिए । यदि ज्ञान और प्रेम का यह पारस्परिक सम्बन्ध ध्यान में रखा जाय तो भक्ति और ज्ञान की मोक्ष साधनता में जो विवाद है तथा पर

अपर सम्बन्धी सारी विचिकित्साएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी । मध्व ने बहुत स्पष्ट रूप से यह सिद्ध किया है कि ज्ञान और भक्ति एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं तथा ये परस्पर ओत-प्रोत भाव से स्थित रहते हैं ।

(3) प्रेम-

पहले दी गई परिभाषाओं से ही स्पष्ट हो गया कि ईश्वर के प्रति निरन्तर बहने वाले प्रेम प्रवाह को ही भक्ति का नाम दिया जा सकता है । प्रेम तो भक्ति का प्राण तत्त्व है । प्रेम की अनुपस्थिति में तो भक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । यह बात दूसरी है कि विभिन्न आचार्यों ने प्रेम के सर्वातिशायी महत्त्व के विषय में न्यूनाधिक्य स्वीकार किया है । मध्व ने भी प्रेम के महत्त्व को स्वीकार किया है ।

ईश्वर के प्रति उत्पन्न हुआ अनुराग उनके ऐश्वर्य तथा माहात्म्य ज्ञान के व्दारा अधिक सुदृढ़ होता है । जब कोई जीव ईश्वर के प्रति निरन्तर प्रवाहमान प्रीति के व्दारा ओत-प्रोत रहता है तो वह स्वयं को तथा अपने परिवेश को भी भूल जाता है । व्यक्ति पूर्णतः भगवन्मय हो जाता है । उसकी सांसारिक वासनाओं के प्रति स्वाभाविक विरक्ति भी ईश्वर प्रेम के व्दारा ही संभव है ।

मध्व के अनुसार भक्ति प्रेमपूर्वक सम्बन्ध की एक दशा है जो कि भक्ति के लक्ष्यभूत ईश्वर के ज्ञान और उनके प्रति श्रद्धा से उत्पन्न होती है । इसीलिए तो उन्होंने कहा है कि ईश्वर के प्रति अप्रशंसात्मक या व्देष की भावना मोक्ष में बाधक होती है । यद्यपि पुराणों में कुछ उदाहरण ऐसे दिये गये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कुछ लोगों ने प्रेम की अपेक्षा व्देष के माध्यम से भी ईश्वर को प्राप्त कर लिया:-

" गोप्यः कामाद् भयात्कंसः द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो: ।।"[1]

मध्व ऐसे प्रसंग को "अर्थवाद" मानते हैं ।

" द्वेषाधनुक्तिकथनं श्रुतिवाक्यविरोधि तत्" -[अनुव्याख्यान]

पुराणों के ऐसे कथनों का तात्पर्य यह है कि ईश्वर को किसी न किसी भाव से सदैव स्मरण करना चाहिए । "द्वेषभक्ति" को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार करना केवल ईश्वर की भव्यता को प्रतिपादित करने की दृष्टि से है । यदि शास्त्रों का तात्पर्य ये सिखाने में है कि ईश्वर द्वेष के भाव से भी प्राप्त किये जा सकते हैं तो वे शास्त्र भगवान के हेय गुणों तथा उनके अपूर्णत्व का प्रतिपादन करते जबकि शास्त्रों में सदैव सर्वथा ईश्वर की [illegible] एवं पूर्णत्व का ही उल्लेख किया गया है । इस प्रकार मध्व "द्वेषभक्ति" को सर्वथा अस्वीकार कर "प्रेमपूर्णभक्ति" या प्रेम भाव से की जाने वाली भक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं ।

[4] गुरू आश्रय-

आचार्य मध्व ने भी गुरू के महत्त्व को स्वीकार किया है । उनके अनुसार गुरू केव्दारा ही जैसी आराधना पद्धति प्राप्त होती है तदनुसार फल प्राप्ति होती है । इसीलिए तो कहा गया है कि:-

" तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं
ब्रह्मनिष्ठम् ।"

तथा

" यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।"[2]

1- भागवत- 7-1-30

इन श्रुतियों से गुरु कृपा की सफलता ही सिद्ध होती है ।

गुरु के चयन में ऐसा कोई भी नियम नहीं है कि पूर्व प्राप्त गुरु की ही शरण में जाना चाहिए । यदि बाद में प्राप्त होने वाले गुरु की ही पूर्ण कृपा मिल जाय तो उनका ही स्वाभाविक महत्त्व है जैसा कि बृहद्संहिता में उल्लिखित है:-

" समग्रहानुग्रहं कश्चित् स्वयमेव समो यदि ।
कुर्यात्सुनश्च गृह्णीयाद्विरोधेन कामतः ।।
ध्यानयोः समयोर्यद्वद् विकल्पः कामतो भवेत् ।
एवं गुणोर्द्वितीयस्य विकल्पो ग्रहणे पि च ।।"[1]

अर्थात् यदि किसी योग्यतम गुरु की पूर्ण कृपा स्वतः प्राप्त हो जाय तो इच्छानुसार बिना किसी संकल्प-विकल्प के उन्हें पुनः गुरु कर लेना चाहिए । जैसे कि विचार करते समय दो विकल्पों में से सही सुसंगत अर्थ को इच्छानुसार मान लिया जाता है । वैसे ही पूर्व और बाद में मिलने वाले गुरु में से यदि बाद वाले गुरु सद्गुण सम्पन्न हैं तो उन दूसरे शब्द गुरु को ही ग्रहण करना चाहिए ।

भक्ति का स्वरूप-

मध्व ने भक्ति के लिए कुछ क्रियाओं के अभ्यास की आवश्यकता पर बल दिया है । दूसरे शब्दों में अब हम भक्ति के साधन स्वरूप की व्याख्या करेंगे । भक्ति में श्रवण, मनन, निदिध्यासन उपासना की उपयोगिता बतलाई गई है । जैसा कि भागवत मे कहा गया है:-

---

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 3-3-46

" पानेन ते देव कथासुधाया: प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसा त्वापुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।"[1]

इस श्लोकमें भक्ति में श्रवण मनन की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है । इसलिए भक्ति के अनुष्ठान के लिए सर्वप्रथम श्रवण(अध्ययन) के द्वारा ईश्वर के विषय में अपनी धारणाओं का विकास करना चाहिए । " शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेदम्मि जनार्दनम् ।"[2] आत्मा के माहात्म्य को सुनकर दत्तचित्त होकर उपासना करके यही परमात्मा का दर्शन पाना चाहिए । इस प्रकार मध्व के अनुसार भक्ति केवल संवेगात्मक या भावनात्मक विचार प्रवाह मात्र नही है । यह धैर्यपूर्वक कृत अध्ययन प्रक्रिया तथा गहन मनन का परिणाम है जैसा कि रामानुज भी स्वीकार करते हैं । इस श्रवण, मनन आदि का अभ्यास मोक्ष पर्यन्त करना चाहिए:-

" शृणु यावदज्ञानं मतिर्यावद्युक्तता ।
ध्यानं च यावदीक्षा स्यान्नेक्षा क्वचन बाध्यते ।।
दृष्टतत्वस्य च ध्यानं यदा दृष्टिर्न विद्यते ।
भक्तिश्चानन्तकालीन परमे ब्रह्मणि स्फुटा ।
आविमुक्तेर्विधिनित्यं स्वत एव तत: परम् ।।"[3] इति ब्रह्माण्डे

अर्थात् तब तक भगवत्तत्व्य का श्रवण करो जब तक तुम्हारी वैषयिक इच्छाएँ तुम्हें सताती रहे । जब तक दृष्ट तत्त्व दृष्टिगत न हो जाय तब तक ध्यान करना चाहिए । परमात्मा के प्रति की गई अनन्तकालीना भक्ति से ही तत्त्व का प्रकाश होता है या दृष्टि तत्त्व साक्षात्कार के योग्य बनती है । इसलिए मुक्ति पर्यन्त उपासना करनी चाहिए ।

1- भागवत- 3-5-45

2- महाभारत-5

3- पर्णयज्ञ भाष्य- 4-1-12

श्रवण, मनन तथा उपासना का अभ्यास बार-बार करना चाहिए । बृहत्तंत्र में भी इसी का समर्थन किया गया है:-

" नित्यशः श्रवणं चैव मननं ध्यानमेव च ।

कर्तव्यमेव पु ब्रह्मदर्शिना मिच्छुभिः ।। "इति बृहत्तंत्रे[1]

एकमात्र विष्णु में ही ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिए । क्योंकि परमात्मा प्राणि मात्र को आनन्दित करने वाले हैं इसलिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग उन्हीं के लिए उपयुक्त है । जहाँ आत्मा की उपासना का उल्लेख है वहाँ ब्रह्मत्व जुड़ा हुआ है ।

उपासना सर्वदा करनी चाहिए । किन्तु जब विशेष उपासना करनी हो तो बैठकर ही करनी चाहिए । उपासना के दो रूप हैं ॥1॥ स्मरण ॥2॥ ध्यान । ध्यान स्मरण की अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर है । अतएव इसमें मन की वृत्ति को निरन्तर एक ओरलगाने के लिए एक उपयुक्त स्थान पर आसीन होना आवश्यक है । क्योंकि शरीर की चंचलता से मन भी चंचल हो जाता है ।

मध्व के अनुसार ईश्वर के सच्चे भक्त के लिए एक शुद्ध नैतिक जीवन का व्यवहार आवश्यक है । आचार्य इस विषय पर बले देते हैं कि प्रभु के प्रति वास्तविक भक्ति तब तक नही हो सकती जब तक व्यक्ति में शुद्ध नैतिकता, लक्ष्य के प्रति सजगता एवं सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्ति न हो । कोई भी व्यक्ति एक समय दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता है । भगवान के प्रति वास्तविक भक्ति सांसारिक खुशियों के प्रति उत्पन्न स्वाभाविक अरुचि के बिना संभव नही है । अतएव ये सब भी भक्ति के आवश्यक तत्व हैं:-

---

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-1-2

" भक्तिः परे स्वेऽनुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिकएककालः "[1]

" सा श्रद्धधानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः "[2]

सभी दृष्टिकोणों से आचार एवं व्यवहार की शुद्धता भक्ति तथा ज्ञान दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है इसीलिए तो कहा गया है कि:-

" शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्ये-
वात्मानं पश्येत् ।"[3]

इस प्रकार के व्यवहार की शुद्धता से रहित जो भक्ति जो भक्ति है वह भक्ति के नाम पर किया गया पाखंड मात्र है:-

" अतोऽन्यः कश्चित् भवति चेत् दाम्भिकत्वेन्
सोऽनुवेगः ।"[4]

शारीरिक वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण शान्त मानसिक स्थिति व्यवहार की समरसता तथा ईश्वर के प्रति प्रेम इन्हीं चार तत्वों को आचार्य ने भक्ति और ज्ञान के लिए प्रारम्भिक रूप से आवश्यक बताया है:-

" गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम् ।
तं चापि देवं शरणं प्रपन्न एकान्तभावेन भजाम्यजस्रम् ।।
एतैर्विशेषैः परिशुद्धसत्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमेनम्[5]

1- भागवत-11, 2, 42

2- भागवत-3, 5, 13

3- पूर्णप्रज्ञ भाष्य-1-1-1

4- मध्वगीता भाष्य-9, 31

5- मध्वगीता भाष्य-9, 31

मध्व तथा उनके अनुयायियों के द्वारा भक्ति का जो सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप स्वीकार किया गया है वह श्रृंगारिक मनोभावों से रहित है जो कि अन्य उत्तरी वैष्णवों जैसे जयदेव, चैतन्य एवं वल्लभ के भक्ति विषयक संधारणा को या तो अभिभूत करती है अथवा उन पर अल्पाधिक मात्रा में प्रभाव अवश्य डालती है । वास्तव में भक्ति का ऐन्द्रिक एवं विह्वल स्वरूप सर्वप्रथम तमिल वैष्णवों ﴾आलवारों﴿ की रचनाओं में मिलता है जिसमें भगवान कृष्ण के प्रेम को दाम्पत्य प्रेमजन्य संवेग के सम्मिश्रित कर दिया गया है । भक्ति का यह स्वरूप बाद में बंगाल के गौड़ीय सम्प्रदाय में क्रमिक एवं विस्तृत रूप में चित्रित किया गया है । लेकिन मध्व का भक्ति विषयक सिद्धान्त इस अवैयात्मक अतिशयिता की उपेक्षा करता है । यह इस संसार के स्वामी भगवान विष्णु के प्रति बौद्धिक तथा आत्मिक स्तर की सुदृढ़ दार्शनिक भक्ति तक ही सीमित रहता है । लेकिन मध्व की भक्ति सर्वथा भावना शून्य नही है । क्योंकि मध्व ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि भक्ति भावना तथा बौद्धिकता का मिला जुला रूप है । इन्होने अपनी रचनाओं में ईश्वर के प्रति प्रेम को उदात्त एवं उल्लसित रूप में व्याख्यायित किया है ।

लेकिन आचार्य मध्व ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए श्रृंगारिक भक्ति से अनभिज्ञ नही थे । मध्वाचार्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों के लिए विभिन्न प्रकार की भक्ति के स्वरूप को निर्धारित किया है:- जैसे काम भक्ति या श्रृंगारपूर्ण भक्ति केवल अप्सराओं के लिए है न कि जन साधारण के लिए । इस प्रकार मध्व अधिकारों के आधार पर भक्ति के विभिन्न रूपो की स्थापना करते हैं ।

" स्नेहभक्ता: सदा देवा: कामित्वेनाप्सर: स्त्रिा: ।

काश्चित्काश्चिन्न कामेन भक्त्या केवलयैव तु ।

मोक्षमायान्ति नान्येन भक्तिं योग्य बिना क्वचित् ।।" (पद्म)

मध्व के अनुसार विभिन्न प्रकार की अनीश्वरवादी धारणाओं के प्रबलतम प्रवाह से रक्षित होने पर ही भक्ति का अबाधित स्वरूप स्थापित हो सकता है:-

" जीवाभेदो निर्गुणत्वं अपूर्णगुणता च,

साम्याधिक्ये तदन्येषां भेदस्तद्गत एव च

प्रादुर्भावविपर्यास: तदभक्तद्वेष एव च,

तत्प्रमाणस्य निन्दा च द्वेषा एते खिलामता: ।

एतैर्विहीना या भक्ति: सा भक्तिरिति निश्चिता ।।"[1]

आचार्य ने भक्तों की तीन प्रकार की कोटियाँ निर्धारित की है:- उत्तम, मध्यम एवं अधम । ये कोटियाँ भक्ति की तीव्रता तथा स्वरूप के आधार पर निर्धारित की गई है । जो भक्त शमदम आदि पर साधन संपत्ति के आश्रय से भगवान को जानने के लिए उद्यत है वे अधम श्रेणी में आते हैं । मध्यम वे हैं जो आब्रह्म स्तम्बपर्यन्त सारे विश्व को अनित्य मान कर चलते हैं । उत्तम भक्त वे हैं जो कि समस्त कर्मों को भगवान के श्री चरणों में अर्पित कर एकमात्र भगवान के आश्रित हैं ।

इस विभाजन में शरणागति को सर्वाधिक उच्च स्थान दिया गया है ।

साध्य भक्ति का स्वरूप-

मध्व ने भक्ति की तीन अवस्था स्वीकार की है । पहली अवस्था परोक्ष ज्ञान के पहले वाली होती है इसे जयतीर्थ ने "पक्व भक्ति" का नाम दिया है ।

1- महाभारत तात्पर्य निर्णय- 1-113-15

इसमें ईश्वर विषयक ज्ञान प्राप्त करना होता है । इस ज्ञान को प्राप्त करने में श्रवण, मनन आदि पर्याप्त रूप में सहायक होते हैं । दूसरी अवस्था को "परिपक्व भक्ति" का नाम दिया जाता है । ये परोक्षज्ञान का अनुकरण करती है । इसमें हम ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं तथा ध्यान के व्दारा ही ईश्वर का यह साक्षात्कार संभव है । तृतीय अवस्था की भक्ति "अतिपरिपक्व भक्ति" है । यह ईश्वर के अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान के बाद प्रकट होती है । इसमें जीव को ईश्वर का अत्यर्थ प्रसाद प्राप्त हो जाता है । इस अतिपरिपक्व भक्ति में हम ईश्वर की कृपा से उनके साहचर्य के व्दारा अलौकिक आनन्द की अनुभूति करते हैं । यह भक्ति की वह अवस्था है जो ब्रह्मजीव सम्बन्ध को भलीभाँति प्रकट कर देती है । "समोऽपि भगवान् स्वबिम्बदर्शनं एवैनं मोचयति ।"[1] ईश्वर का अपने बिम्ब के रूप में साक्षात्कार के व्दारा ही हम इस अन्तिम साध्यानन्द फलानुभव को प्राप्त करते हैं । यही भक्ति का साध्य स्वरूप है । इस रूप की भक्ति ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है:-

" भक्त्या ज्ञानं ततो भक्तिः ततो दृष्टिस्ततश्च सा ।
ततो मुक्तिस्ततो भक्तिः सैव स्यात् सुखरूपिणी ।।"[2]

इसी भक्ति को मध्व "निष्काम भक्ति" की संज्ञा देते हैं । यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन न होकर स्वयं अन्तिम लक्ष्य है:-

" It views Sublime Bhakti not as a means to an end but as an end in itself."[3]

1- न्याय विवरण- 3,3

2- अनुव्याख्यान- 3,4,अधि 56

3- Philosophy of Sri Madhvacharya-B.N.K.Sharma Page 399.

मोक्ष की स्थिति में हम सर्वदा उस साध्य भक्ति के कारण आनन्द का अनुभव करते रहते हैं। ईश्वर तथा जीव का जो स्वामीसेवक भाव रूप सम्बन्ध है वह मोक्ष में भी तथैव बना रहता है। ईश्वर तथा जीव के बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का पूर्णरूपेण प्राकट्य इसी अवस्था में होता है जो कुछ जीवात्मा के स्वरूप का अंश नहीं है उसका परित्याग और अपने आत्मस्वरूप में जीव की प्रतिष्ठा ही मोक्ष पदवाच्य है। मुक्तिमें ईश्वर जीव सम्बन्ध हजारों प्रकार से प्रकाशित होता है। यह प्रकाश इस भौतिक सृष्टि में प्राप्त जीव के दृष्टिकोण से कहीं परे है। इसीलिए मोक्ष प्राप्ति के बाद भी भक्ति का अनुष्ठान आवश्यक रूप से विहित है:-

" आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरूक्रमे,
कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिं इत्थम्भूतगुणो हरि:।"[1]

सनक इत्यादि भक्तों ने सभी प्रकार की मुक्तियों का त्याग करके भक्तिपूर्ण समर्पण (आत्मनिवेदन) के व्दारा प्राप्त सुख को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया:-

" नैकात्म्यतां मे स्पृहयन्ति केचित् एकत्वमाप्युत।"[2]
दीपमानं न गृह्णंन्ति-------------------।"[3]

मध्व ने भक्ति की आवश्यकता केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ही स्वीकार नहीं की है बल्कि मुक्त पुरूषों के जीवन में भी भक्ति का नैरन्तर्य पूर्वकृत साधन स्वरूपा

1- भागवत पुराण- 1-3-10

2- भागवत पुराण- 3-25-34

3- Philosophy of Sri Madhvacarya - B.N.K. Sharma, Page - 399

भक्ति के फल रूप से आवश्यक है:-

" भक्त्या प्रसन्नः परमो दद्याद्ज्ञानमनाकुलम् ।
भक्तिं च भूयसीं ताभ्यां प्रसन्नो दर्शनं व्रजेत् ।।
ततोऽपि भूयसीं भक्ति दद्यात्ताभ्यां विमोचयेत ।
मुक्तोऽपि तद्वशो नित्यं भूयोभक्तिसमन्वितः ।।"[1]

अर्थात् ईश्वर जीव की प्रारम्भिक भक्ति से प्रसन्न होकर सर्वप्रथम उसे अपने स्वरूप तथा गुणों का ज्ञान प्रदान करते हैं । तब वह अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं । इसके बाद प्रभु जीव को अधिक गहनतापूर्वक भक्ति करने के लिए उत्साहित करते हैं । फिर भक्त को अपना स्वरूप दिखाकर उसके प्राकृतिक बन्धन को काट देते हैं । मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर के अधीन रहते हैं तथा उनके प्रति सर्वातिशायी भक्ति से युक्त रहते हैं ।

मोक्ष की दशा में की जाने वाली भक्ति अन्य कुछ भी प्राप्त करने के लिए नहीं होती है । बल्कि यह भक्ति तो स्वयं ही अन्तिम लक्ष्य है इसलिए इसका पोषण निरन्तर होता रहता है:-

" साध्यानन्दस्वरूपैव भक्तिर्नैवात्र साधनम् ।"[2]

मध्व ने मोक्षावस्था में की जाने वाली भक्ति का महत्त्व दर्शाने के लिए ही नित्यमुक्ता लक्ष्मी के व्दारा भी ईश्वर की सदैव की जाने वाली उपासना को स्वीकार किया है । लक्ष्मी समस्त सृष्टि की अधिष्ठात्री शक्ति होते हुये भी एकमात्र विष्णु के ही अधीन हैं तथा सदैव उनकी भक्ति में लीन रहती हैं । जब विष्णु की पत्नी होते हुये भी वे उनकी उपासिका हैं तो साधारण जीव मोक्ष प्राप्ति के अनन्तर ईश्वर की आराधना से च्युत किसी प्रकार भी नहीं

1-गीता तात्पर्य-प्रस्तावना

2-गीता तात्पर्य-भूमिका से उद्धृत

हो सकता ।

मध्वाचार्य ने जीव द्वारा की जाने वाली भक्ति में तारतम्य को स्वीकार किया है यह माध्व मत की अपनी विशिष्टता है । उनका मत ये है कि जीव के लिए ईश्वर की नाना अभिव्यक्तियों अर्थात् अन्य सभी देवी देवताओं जैसे:- इन्द्र, वरूण, सूर्य, सविता, उषा आदि की भी उपासना आवश्यक है । क्योंकि ये सभी प्रभु के ऐश्वर्य को ही व्यक्त करते हैं । इसलिए जब जीव इन देवताओं की उपासना करते हैं तो वे प्रसन्न होकर उन्हें ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग दिखाते हैं । देवता स्वयं भी लक्ष्मी की भाँति ईश्वर की उपासना करते हैं । इस प्रकार मध्व ने उपासना में तारतम्यभाव को स्थापित किया है और उन्होंने ईश्वर के साथ-साथ अन्य देवी देवताओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

अब हम इनकी भक्ति विषयक विवेचना के पश्चात् ये निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन्होंने भक्ति के दोनों ही पक्षों को स्पष्ट रूप से अपने सिद्धान्त में स्थान दिया है जो कि सभी स्थिति में सदैव सुखरूपिणी है:-

" हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी ।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः ।।"[1]

निष्कर्ष-

आचार्य मध्व ने अपने सिद्धान्त में भक्ति की एक उत्कृष्ट व्याख्या की है तथा इन्होंने कई भक्ति के अनुष्ठान से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण सुधार भी किये हैं । जैसे भक्ति से पूर्व जब ये वेदोक्त यज्ञादि के अनुष्ठान की बात करते हैं तो ये यज्ञ में होने वाली पशु बलि का निषेध करते हैं तथा उसके स्थान पर पिष्ट पशु(आटे से बने हुये पशु) की बलि का विधान करते हैं । इस प्रकार

1- पूर्णप्रज्ञ भाष्य- 4-4-21

इन्होंने धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा का स्पष्ट विरोध किया है ।

इन्होंने मुक्ति के तीनों साधनों अर्थात् कर्म, ज्ञान, एवं भक्ति के मध्य कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं खींची है । भले ही भक्ति का स्थान शेष दोनों ही से ज्यादा उत्कृष्ट है फिर भी भक्ति ज्ञान एवं कर्म की पूकापेक्षी है । कर्म के अन्तर्गत इन्होंने वैदिक, शास्त्रोक्त कर्मों की अनिवार्यता स्वीकार की है जिसमें यज्ञ, दान, तीर्थयात्रा इत्यादि सभी का समावेश हो जाता है । ये कर्म भी ज्ञान के सहकारी हैं क्योंकि शम, दम इत्यादि क्रियाओं के पालन से ही चित्त निर्मल होता है तथा उसमें ईश्वर विषयक जिज्ञासा का उदय होता है । भक्ति के लिए ईश्वर के स्वरूप एवं गुणों के ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हुये इन्होंने नवधा भक्ति के अंग श्रवण को ज्ञानोत्पत्ति में सहायक मानकर ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे में मिला दिया है । वैसे भी मध्व ज्ञान और भक्ति को एक ही कोटि में रखते हैं । ज्ञान भक्ति का बौद्धिक पहलू है तथा प्रेम ही भक्ति है इस प्रकार दोनों एक दूसरे में ओत-प्रोत भाव से स्थित रहते हैं ।
"बिना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं बिना च तत् ?"

मध्व ने साधन एवं साध्य दोनों रूपों की भक्ति को अपने सिद्धान्त में विवेचित किया है । साधन भक्ति में श्रवण, कीर्तन, अर्चन, उपासना का समावेश होता है । विशिष्ट प्रकार के ध्यान को ही ये उपासना कहते हैं । इस साधन भक्ति के अनुष्ठान से ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है । साध्य भक्ति तो फलरूपा है । यह मोक्ष से भी श्रेष्ठ है । क्योंकि जीव मुक्ति के बाद भी ईश्वर की भक्ति में ही लीन रहता है । जीव व्दारा ईश्वर का सायुज्य प्राप्त करके उनके समान भोगों को भोगने के बाद भी उनका परस्पर स्वामीसेवक भाव बना रहता है । मोक्ष की अवस्था में की जाने वाली भक्ति निष्काम भक्ति है क्योंकि उस स्थिति में कोई कामना शेष नहीं रहती । जीव भगवराधन करते हुये

आत्मानन्द की अनुभूति, श्री हरि की कृपा एवं उनके साउचर्य सुख का अनुभव करते रहते हैं ।

मध्व वह पहले भाष्यकार हैं जिन्होंने बादरायण के वेदान्तसूत्रों में भक्ति को एक निश्चित स्थान दिया है । बादरायण ने सूत्रों में भक्ति विषयक सिद्धान्त को उपनिषदों तथा अन्य स्त्रोतों से ग्रहण किया है । क्योंकि प्रारम्भिक कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों ने भक्ति के सिद्धान्त को पुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । इसलिए बादरायण इन उपनिषदों के भक्ति विषयक सिद्धान्त से अपरिचित थे या उन्होंने भक्ति को अपने ईश्वरवादी दर्शन में मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया, ऐसा मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है । शंकर तथा रामानुज जैसे पूर्ववर्ती व्याख्याकार जो कि बादरायण के सूत्रों में भक्ति को स्थान नहीं दिला सके इसका दोष उनकी गुरुपरम्परा से प्राप्त दृष्टिकोण को दिया जा सकता है अथवा इन आचार्यों की व्याख्याशैली ही एकांगी या एकपक्षीय रही । इन आचार्यों की तुलना में मध्व ने बादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र के तीसरे साधनपाद में भक्ति को स्पष्ट रूप में मोक्ष का साधन स्वीकार किया है ।

परिच्छेद

निम्बार्काचार्य

वैष्णव सम्प्रदाय में निम्बार्क मत का दार्शनिकता की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत प्राचीनता की दृष्टि से भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व है । इस मत के सर्वप्रथम उपदेष्टा हंसावतार भगवान हैं जिनके शिष्य सनत्कुमार ने यह उपदेश महर्षि नारद जी को दिया तथा श्री निम्बार्क को इस सिद्धान्त का उपदेश नारद जी से ही प्राप्त हुआ । इस परम्परा के कारण यह सम्प्रदाय हंस सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय, देवर्षि सम्प्रदाय आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है ।

जीवन परिचय-

श्री निम्बार्क के आविर्भाव के विषय में निरन्तर अध्ययन एवं नित नये निष्कर्ष स्थापित किये जा रहे हैं । इनके अनुयायियों के अनुसार श्री निम्बार्क का उदय कलियुग का प्रारम्भ है । ये वेदव्यास के समकालीन बतलाये जाते हैं ।[1] इधर नवीन गवेषक इनका समय 12वीं शती या उसके भी पीछे मानते हैं ।

डॉ० भण्डारकर ने गुरू परम्परा की छान-बीन करके इनका समय ई० सन् 1162 केआसपास माना है ।[2] नवीन विद्वानों की दृष्टि में भी यही इनका प्राचीनतम काल है । परन्तु बिना अन्य सहायक या पोषक सामग्री के केवल गुरू परम्परा के आधार पर काल निर्णय करना नितान्त भ्रामक है ।

आचार्य बलदेव ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि निम्बार्क सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन हैं ।[3] क्योंकि निम्बार्ककृत वेदान्तभाष्य।वेदान्त-

---

1- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य एवं सिद्धान्त-बलदेव-पृ0 299

2- वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत-भंडारकर-पृ0 87

3- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य एवं सिद्धान्त-आचार्य बलदेव-पृ0 300

पारिजात-सौरभ। बड़ा ही संक्षिप्त है । और इसमें किसी मत का खण्डन नहीं है । केवल अपने द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही लघ्वक्षरों में किया गया है । भाष्य का यह रूप निस्संदेह इसकी प्राचीनता का द्योतक है । इस सम्प्रदाय की प्राचीनता के विषय में भविष्य पुराण का यह पद्य उद्धृत किया जाता है जिसमें एकादशी के निर्णय के अवसर पर निम्बार्क का मत उद्धृत किया गया है:-

" निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः ।
उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ।।"[1]

डॉ0 भण्डारकर के अनुसार निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे । ये दक्षिण के बेलारी जिला के निवासी थे । इनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम सरस्वती था ।[2] किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार दक्षिण देश के गोदावरी के तथ पर वैदूर्य पत्तन के निकट पंडरपुर में अरूण मुनि की पत्नी जयंतीदेवी के गर्भ से कार्तिकपूर्णिमा को सायंकाल गोधूलि वेला में श्री निम्बार्क का जन्म हुआ था । अरूण जी के पुत्र होने के कारण ही इन्हें आरूणि कहा जाता है । ये भगवान् के प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र के अवतार माने जाते हैं । इनके उपनयन संस्कार के समय देवर्षि नारद ने स्वयं उपस्थित होकर इन्हें गोपाल मन्त्र की दीक्षा दी तथा श्री-भू-लीला सहित श्रीकृष्ण की उपासना का उपदेश दिया । इनका प्रथम नाम नियमानन्द था । एक अद्भुत घटना के पश्चात् ही इनका निम्बार्क नाम पड़ा । एक बार मथुरा के पास यमुना तीर के समीप ध्रुवक्षेत्र में निम्बार्क स्वामी विराजमान थे । तब कोई सन्यासी इनके पास आये । वार्तालाप में विलम्ब होने से संध्या हो चली तथा ये सन्यासी को भोजन नहीं करा सके । तभी एक विचित्र घटना हुई । अतिथि एवं आचार्य दोनों ने

1- वैष्णवधर्म सुरद्रुममञ्जरी-श्री संकर्षणदेव, पृ0 124-130

2- हरिव्यासदेवकृत टीका की भूमिका से उद्धृत

देखा कि आश्रम में नीम वृक्ष के ऊपर सूर्य भगवान चमक रहे हैं । प्रसन्न होकर इन्होंने अतिथी को भोजन कराया । इसी चमत्कार के कारण इनका नाम निम्बादित्य या निम्बार्क पड़ गया ।

इनके चार शिष्य बतलाये गये हैं ।

(1) श्री निवासाचार्य (2) औदुम्बराचार्य (3) गौरमुखाचार्य (4) लक्ष्मण भट्ट ।

रचनाएँ-

(1) वेदान्त परिजात सौरभ-

ब्रह्मसूत्र के ऊपर नितान्त स्वल्पकाय वृत्ति ।

(2) दशश्लोकी-

सिद्धान्तप्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह इस पर हरिव्यासदेवरचित व्याख्या प्राचीन तथा महत्त्वशालिनी मानी जाती है ।

(3) श्रीकृष्णस्तवराज-

निम्बार्क मत के प्रतिपादक 25 श्लोकों का स्तुतिपरक ग्रन्थ जिसकी श्रुत्यान्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी तथा श्रुत्यन्तकल्पवल्ली नामक व्याख्याएँ प्रकाशित है ।

(4) मन्त्ररहस्यषोडशी-

इसमें 18 श्लोक हैं जिनके प्रथम 16 श्लोकों में निम्बार्क मत के पूज्य मन्त्र अष्टदशाक्षर गोपाल मन्त्र की विस्तृत व्याख्या है । इसके ऊपर सुन्दर भट्टाचार्य ने मन्त्रार्थरहस्य व्याख्या नामक टीका लिखी है ।

(5) प्रपन्नकल्पवल्ली-

प्रस्तुत ग्रंथ में शरणमन्त्र के रहस्य का उद्घाटन है । इसके ऊपर सुप्रसिद्ध सुन्दर भट्टाचार्य ने प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी नामक विस्तृत भाष्य लिखा है ।

आचार्य निम्बार्क की पूर्वोक्त रचनाएँ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । परन्तु पुरूषोत्तम तथा सुन्दर भट्ट आदि अवान्तकालीन लेखकों के उल्लेखों से पता चलता है कि निम्बार्क ने गीता वाक्यार्थ, प्रपत्तिचिन्तामणि तथा सदाचारप्रकाश नामक और तीन ग्रन्थों का भी निर्माण किया था । परन्तु अभी तक ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं ।

सिद्धान्त-

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म जीव के मध्य भेदाभेद या व्दैताव्दैत सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं । उनका मत जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी । जब जीवात्मा कर्म संस्कारों के अधीन रहकर मलिन रहता है तब वह ब्रह्म से भिन्न रहता है, भगवद्भक्ति व्दारा उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होने पर उस प्रकाशवान परमात्मा के समान जीवात्मा भी प्रकाशवान् हो जाता है जब दोनों के रूप में अभेद हो जाता है । जीव और ब्रह्म का जो विभाग है वह भी समुद्र और समुद्र की तरंग तथा सूर्य और उसकी प्रभा के समान है जो कि एक होकर भी दो और दो होकर भी एक है । चित् और अचित् रूप सम्पूर्ण जगत अपने कारण ब्रह्म में भिन्न-भिन्न संबंध से स्थित रहता है जैसे कि सर्प की कुंडली एवं विस्तार में भेदाभेद है । श्री निम्बार्क का यह भेदाभेद सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक जगत में अत्यन्त प्राचीन है । बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे । आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे । औडुलोमि के मत में संसार दशा में जीव तथा ब्रह्म में भेद है तथा मुक्तावस्था में दोनों में अभेद रहता है (ब्र.सू. 1/4/21) आश्मरथ्य का सिद्धान्त यह है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है परन्तु कार्यात्मक रूप से दोनों में भेद है जैसे कि कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक कुण्डलादि रूप में दोनों में भिन्नता बनी

रहती है । ब्र0सू0 1।4/20

आचार्य शंकर के पूर्व वेदान्ताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त को स्वीकार करते थे । इनकी दृष्टि में ब्रह्म तथा जीव एक होने पर भी समुद्र तरंग न्याय से भिन्न और अभिन्न हैं जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है परन्तु अपने विकार रूप तरंग, बुद्बुद आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है नानात्मक है । इन्होंने तीन रूपों में ब्रह्म के परिणाम को स्वीकार किया है ।1। अन्तर्यामी जीव रूप में ।2। अव्याकृत सूत्र विराट तथा देवता रूप में ।3। जाति तथा पिण्डरूप में । इनके मत में परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेश एकदेशिभाव सिद्ध होता है ।

शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्योंमें भास्कर का नाम प्रमुख है । इनके मत में ब्रह्म कारण रूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपंचमय है । ब्रह्म की दो शक्तियाँ है ।1। भोग्यशक्ति ।2। भोक्तृशक्ति । भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगतरूप परिणत होती है । भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है । ब्रह्म की ये शक्तियाँ पारमार्थिक हैं । भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं । जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त औरअचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करता है । जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फलिङ्गवत् अंश है । जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी । जीव ब्रह्म में अभेद स्वाभाविक है तथा भेद उपाधिजन्य ।

कहा जाता है कि आचार्य रामानुज के विद्या गुरू श्री यादव प्रकाश जो कि पहले अव्दैतवाद के समर्थक थे बाद में भेदाभेदवादी हो गये । भास्कर के समान ये भेद को औपाधिक नहीं मानते है ।

श्री निम्बार्क ने ब्रह्म का स्वरूप चतुष्पाद स्वीकार किया है:-

।1। अक्षर ।2। ईश्वर ।3। जीव ।4। जगत

अक्षर-

ब्रह्म सत् चित् और आनन्दस्वरूप है । इन स्वरूपों में वह स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घादि तथा कर्तृत्वादि सभी प्रकार में धर्म रहित है । वे एक और अद्वितीय हैं और निर्गुण अक्षरादि नामों से आख्यात होते हैं । ब्रह्म के इस स्वरूप के विषय में श्रुति, स्मृति तथा ब्रह्म सूत्र में प्रमाण उपलब्ध है जैसे:- " एतद्वै तदक्षरं गार्गि । ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घम्----।" §बृ० 3/8/8§ । इसी प्रकार "अक्षरमम्बरान्तधृते §ब्र०सू० 1/3/10§ इस सूत्र में अक्षर ब्रह्म के स्वरूप के विषय में उपदेश है ।

ईश्वर-

सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अचिन्त्य विचित्र संस्थान सम्पन्न अनन्त नामरूप विशिष्ट इस जगत की सृष्टि, स्थिति और लय साधन करते हैं । वे इस जगत के निमित्त और उपादान कारण हैं । अत: वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, सर्वरूप हैं । इस रूप में उनकी ईश्वर संज्ञा होती है । इस स्वरूप के विषय में भी श्रुति प्रमाण उपलब्ध है:- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म §तै० 3/1§ । एवं ब्रह्म सूत्र "जन्माद्यस्ययत: §1/1/2§ में भी यही कहा गया है ।

जीव-

ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूपभूत चित् को अनन्तरूप से प्रसारित करके अपने ही आनन्दस्वरूप भूत इस जगत के प्रत्येक अंश में अनुप्रविष्ट हुआ है । पृथक रूप से प्रविष्ट उनके चिदंशसमूह ही जीव नाम से आख्यात होते हैं ।

" तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" ॥छा0 6/2/2॥ इस श्रुति में तथा " अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि---------" ॥2/3/42॥ इत्यादि सूत्रों में जीव को ब्रह्म का अंश ही कहा गया है । इस प्रकार यह ब्रह्म का तृतीय स्वरूप सिद्ध हुआ ।

जगत-

ब्रह्म के जिस रूप के प्रत्येक अंश में उसी के अनन्त चिदंश प्रविष्ट हुये है उसके उसी स्वरूप का नाम जगत है । "सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" ॥तै0 2/6/1॥ इस श्रुति वाक्य से तथा "आत्मकृतेः परिणामात्" ॥1-4-6॥ इस ब्रह्मसूत्र तथा उनके निम्बार्क भाष्य से ब्रह्म का यह जगतरूपी चतुर्थ स्वरूप प्रमाणित होता है ।

इस प्रकार ब्रह्म का जीव जगत ईश्वर और अक्षर ये चारों रूप कहे गये तथा श्रुति तथा सूत्र व्दारा इसे प्रमाणित भी किया गया । श्रुति में तो और भी अधिक स्पष्ट रूप से ब्रह्म को चतुष्पाद कहा है:- " पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" अर्थात् यह विश्वभूत समूह ॥निखिल जगत॥ अनन्तमस्तक पुरूष का एक पाद है । अन्य तीन पाद ॥अक्षर, ईश्वर और जीवपाद॥ अमृत ॥मृत्यु धर्म रहित॥ स्वप्रकाशरूप में ॥चिद्रूप में॥ वर्तमान है ।

निम्बार्क सम्मत पदार्थ-

निम्बार्क सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप ही है । सबसे पहले हम ईश्वर के स्वरूप के विषय में चर्चा करेंगे-

§1§ ईश्वर-

आचार्य निम्बार्क के दर्शन में श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर ब्रह्म हैं । परमात्मा, परब्रह्म, नारायण, पुरुषोत्तम, माधव, केशव, भगवान, हरि इत्यादि संज्ञाएँ भी इन्हीं श्रीकृष्ण की ही हैं । निम्बकाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय में राधा के स्वरूप का विवेचन विशेष रूप से किया गया है जिसकी व्याख्या हम ईश्वर के वर्णन के उपरान्त करेंगे अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री राधा सहित भगवान श्रीकृष्ण ही सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए सत्त्व, राजस् एवं तमोगुण का आश्रय लेकर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का रूप धारण करते हैं । इसी से आचार्य निम्बार्क ने अपने दशश्लोकी में श्रीकृष्ण को व्यूहांगिन कहा है । क्योंकि भगवान ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश ये तीनों सृष्टि, स्थिति, संहारकारक व्यूह हैं उन सभी के कारण ही कृष्ण हैं । निम्बकाचार्य ने एक ही श्लोक में ईश्वर के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की है:-

" स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणंहरिम् ।। "[1]

अर्थात् जिनमें स्वभाव से दोषों का लेश नहीं है तथा जो सभी कल्याणप्रद गुणों की खान है एवं श्रेष्ठ व्यूहावतारों के कारण मुमुक्षुओं के उपास्य ब्रह्म कमल नयन भगवान श्रीकृष्ण का हम लोग ध्यान करें ।

इस प्रकार इनके मत में ईश्वर श्री कृष्ण में प्राकृतिक दोषों का स्पर्श भी नहीं होता है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष ये पाँच क्लेश ही प्राकृतिक दोष हैं ।[1] तथा ईश्वर इन क्लेशों से रहित है । इसी प्रकार जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, मरण आदि छः प्राकृतिक विकार भी दोष है और ईश्वर इन सबसे परे है । सत्त्व, रजस, तमस इन तीन प्राकृतिक स्वभाव और इससे होने वाले विकारों से भी अत्यन्त राहित्य ही ब्रह्म का

1- इन्हीं क्लेशों को विष्णु पुराण में तम, मोह, उहापोह, तामिस्त्रऔर

अपास्त दोषत्व है । इस प्रकार क्लेश विकार तथा प्राकृतिक गुण रहित श्रीकृष्ण भगवान ही साक्षात् परब्रह्म हैं ।

इसी के साथ-साथ भगवान श्रीकृष्ण समस्त कल्याणमय गुणों की खान हैं ॥ वे गुण, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि से अनंत हैं । ज्ञान आदि छः गुणों के कारण ही इनकी भगवान संज्ञा होती है । सभी बृहद् गुणों के संयोग से ही परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है । सर्वश्रेष्ठ होने से परमात्मा ही वरेण्य है । जीवात्मा भगवान श्रीकृष्ण को ग्रहण करे उनसे अश्लिष्ट हो तद्वत हो जावे तभी उसकी मुक्ति है । वेदों में गायत्री को भी वरेण्य कहा गया है क्योंकि गायत्री श्रीकृष्ण का ही रूप है ।

ईश्वर ही जगत का निमित्त व उपादान कारण है । भगवान श्रीकृष्ण जगत का निमित्त कारण इसलिए है क्योंकि वह जीवात्माओं को उनके अपने-अपने कर्मों तथा फलों के साथ संयुक्त करते हैं एवं ईश्वर की सूक्ष्मरूपिणी चित और अचित शक्तियों की अभिव्यक्ति ही सृष्टि रचना है इसलिए वे नग सृष्टि के उपादान ॥भौतिक॥ कारण भी हुये । चिदचिद् रूप समस्त सृष्टि के भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर रहने वाले नारायण श्रीकृष्ण ही है:-

" यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः ।।"

-सिद्धान्त जाह्नवी पृ0 53

ईश्वर के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा सभी स्वरूपों को श्री निम्बार्क ने भी स्वीकार किया है । इस मत में श्रीकृष्ण का स्वरूप उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ ही पूर्ण होता है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है उसी प्रकार राधा सर्वेश्वरी हैं । क्रीड़ा के निमित्त एक ही ब्रह्म से सम्पत्तिभाव के दो विग्रह उत्पन्न हुये राधा और कृष्ण ॥तस्माज्ज्योतिरभूद द्वेधा राधा माधवरूपकम् सम्मोहन तन्त्र॥ । पुराणों में केवल लीलारूप से राधा

कृष्ण का दाम्पत्यभाव अङ्गीकृत किया गया है वस्तुतः लौकिक दाम्पत्य से यह नितान्त विलक्षण है जैसे शक्ति और शक्तिमान में अविनाभाव सम्बन्ध मान्य होता है वैसे ही राधा कृष्ण में भी यह सम्बन्ध विद्यमान है । श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन निम्बार्काचार्य ने दशश्लोकी के प्रथम श्लोक में ही किया है:-

" अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम् ।
सखी सहस्त्रैः परिसेवितांसदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।"

अर्थात् श्रीकृष्ण के वामांग में प्रसन्न मुद्रा से सदा विराजमान, भगवत् स्वरूप के अनुरूप मूर्ति धारण करने वाली सहस्त्रों सखियों से सदा सेविता सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली वृषभानु कन्या देवी राधिका का हम लोग सदा स्मरण करें ।

प्रस्तुत श्लोक से निश्चित होता है कि यहाँ राधा का अर्द्धाङ्गिनी स्वकीया भाव है क्योंकि वामांग में पत्नी को रहने का ही अधिकार है । जैसा कि वृहदारण्यकोपनिषद् ॥1/4/3॥ में कहा गया है:- "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकीन रमते स व्दितीयमैच्छत्, स इममेवात्मनं व्देधा पातयतत: पतिश्च पत्नी चाभवताम् ।" अकेले रमण संभव नहीं अब भी अकेला पुरूष रमण नहीं करता उसने दूसरे की इच्छा की, तब उसने अपने को दो रूपों में विभक्त किया । उसका दाहिना अंग पति और वामांग पत्नी हो गई । ये राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है । प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं । राधा ही परमात्मा की आनन्दात्मिका भक्तों को प्रेम रस पिलाने वाली, प्रेममयी उस रस स्वरूप परमात्मा के रस को प्राप्त कर आनन्दित होती रहती है " रसो वै सः ह्येवायं लब्ध्वा नंदी भवति" ॥तैतरीय ब्रह्मानन्द वल्ली 7 अनुवाक॥ ये श्री राधा श्रीकृष्ण के वामांग में अभिन्न रूप से विराजती हैं यहाँ अव्दैत भाव प्रकट होता है साथ ही नित्य युगल रूप भी रहता है:-

" राधा कृष्णात्मको नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम् ।" अर्थात् " राधा कृष्णमय हैं और कृष्ण राधिकामय । ऐसा रूप निश्चय ही सदा रहता है" ॥ब्रह्म वैवर्तपुराण कृष्णखण्ड॥ ये राधा ब्रह्मस्वरूप के अनुसार रूप वाली ही है:-

" सातु साक्षान्महालक्ष्मी कृष्णो नारायण: प्रभु,
नैतयोर्विद्यते भेद: स्वल्पो पि मुनिसतम: ।
इयं दुर्गा हरी रूद्र: कृष्णं शक्र इयं शची,
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरि: ।।"

-॥पद्मपुराण पाताल खण्ड 50/55-56॥

अर्थात् कृष्ण नारायण होते हैं तो राधा लक्ष्मी । राधा दुर्गा हैं तो कृष्ण रूद्र हैं । कृष्ण इन्द्र हैं तो राधा शची हैं । राधा सावित्री हैं तो कृष्ण ब्रह्मा हैं । राधा यमपत्नी हैं तो कृष्ण यम हैं । इस प्रकार प्रभु के अनुरूप ही रूप सदा धारण करती हैं ।

श्री राधिका ही गुरूदेव स्वरूप हैं श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं:-

" इमं तु मद् प्रियां विद्धि राधिकां परदेवतां ।
अस्याश्चपरित: पश्चात् सखय: शत सहस्त्रश: ।।"

-॥पद्मपुराण पाताल खण्ड 51/73॥

अर्थात् मेरी प्रिया राधिका को ही परमदेवता गुरू जानो इसी के आगे-पीछे हजारों सखी सदा रहती है । जीव सखी भाव से ही श्री जी की सेवा में उपस्थित होकर उस ब्रह्म के घनानंद रस का स्वाद ले सकता है । श्री राधा भक्त की सभी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाली हैं । इसलिए बिना राधिका अर्चन के कृष्ण अर्चन का अधिकार ही नही है इसलिए वैष्णवो को राधिका अर्चन अवश्य करना चाहिए ऐसा ही आचार्य निम्बार्क का आग्रह है ।

है ।

इस प्रकार श्री निम्बार्क के सिद्धान्त में ईश्वर श्रीकृष्ण पुरूषोत्तम है जिनके साथ सदा श्री राधिका विराजमान हैं जो भक्तों के लिए गुरू स्वरूपा भी हैं । इन्हीं युगल स्वरूप की उपासना मोक्षदायक है ।

जीव-

निम्बार्क मत में ॥1॥ जीव ईश्वर का अंश रूप है । अंश शब्द का अर्थ अवयव या विभाग नही है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्य:-॥2/3/42 पर कौस्तुभ॥ । ईश्वर सर्वशक्तिमान् अत: वह अंशी है । जीव उसका शक्ति रूप है । अंत: वह अंश रूप है । ॥2॥ जीव ज्ञानस्वरूप है । अर्थात् जीव ज्ञान का आश्रय तथा ज्ञाता भी है अत: वह एक ही काल में ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों उसी प्रकार से है जैसे सूर्य प्रकाशमय तथा प्रकाश का आश्रय दोनों है आत्मा का अपने गुण के साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि धर्मी का सम्बन्ध धर्म के साथ होता है । यह भेद और अभेद रूपी दोनों ही है । जिस प्रकार धर्म और धर्मी के मध्य नितान्त एकत्व नहीं है किन्तु भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता ।॥3॥जीव कर्ता है । प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है । क्योंकि " कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:" स्वर्गकामो यजेत आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार दशा में आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन करती है उसी प्रकार "मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीद", शान्त उपासीत" आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना की प्रतिपादिका होने से उक्त आत्मा को कर्ता बताती है । जो श्रुति वाक्य जीव में कर्तृत्व का निषेध करते हैं उनका तात्पर्य जीव की कर्म में पराधीनता का प्रतिपादन करने से है ।॥4॥ जीव अपने ज्ञान एवं भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है । अत: चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण "नियम्यत्व" रहता है । जीव सदा ईश्वर के अधीन है ।

मुक्त दशा में भी वह ईश्वर के आश्रित ही रहता है । §5§ जीव अणु परिमाण वाला है तो भी ज्ञानरूपी गुण की सर्वव्यापकता को धारण किये रहनेकेकारण वह शरीर मात्र के अन्दर सुख-दुख का अनुभव कर सकता है । जीवों की संख्या असंख्य है इसी से इन्हें अनन्त कहते हैं । जीव की इन सभी विशेषताओं को श्री निम्बार्क ने एक श्लोक में कह दिया है:-

" ज्ञानस्वरूपं हरेरधीनं शरीर संयोग वियोग योग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेह भिन्नं ज्ञातृत्ववंतं यमनंतमाहु: ।।"

अनादि माया से ग्रसित होने के कारण यह जीवात्मा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप को समझ नहीं पाता । भगवान के भक्त ही आत्मा के इस स्वरूप को जान सकते हैं क्योंकि उन पर ईश्वर की कृपा होती है । यह जीव बद्ध व मुक्त रूप से दो प्रकार के हैं किन्तु बद्ध जीव भी दो भेद है:-मुमुक्षु तथा बुभुक्षु । मुक्त तथा मुक्त रूप से दो प्रकार के हैं ।

" अनादि माया परियुक्त रूपं, त्वेनं विदुवे भगवत् प्रसादात् ।
मुक्तं च बद्धं किल बद्ध मुक्तं प्रभेद बाहुल्यमथापि बोध्यम् ।।"

ब्रह्म जीव सम्बन्ध-

जीव, जगत तथा ईश्वर इन तीनों तत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा अभेदपरक नही है । किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उक्त तीनों तत्व परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । यदि परमात्मा जीवात्मा तथा जग से सर्वथा भिन्न होता तो वह सर्वव्यापक न हो सकता । ईश्वर भी वैसे ही परिमित परिमाण वाला होता जैसे कि जीवात्मा तथा जगत् है । इसे शासक §नियन्ता§ भी नहीं माना जा सकता । इस प्रकार निम्बार्क मत में ब्रह्म जीव जगत के सम्बन्ध में भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ है । जीवात्मा तथा जगत ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से

भिन्न है तथा वे जीव जगत ब्रह्म से सर्वथा भिन्न भी नहीं हो सकते क्योंकि वे स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकते और सर्वथा ब्रह्म के आश्रित हैं । इस प्रकार भेद पृथकत्व तथा आश्रित अस्तित्व का द्योतक है (परतंत्रसत्ताभाव) और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव का द्योतक है (स्वतन्त्रसत्ताभाव) इस प्रकार का सम्बन्ध सूर्य तथा उसकी किरणों में अथवा अग्नि और उसकी चिन्गारियों में पाया जाता है । यद्यपि आत्माएँ तथा प्रकृति ईश्वर से भिन्न है फिर भी वे उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं जैसे लहरें जल के साथ अथवा एक रस्सी के बल उस रस्सी के साथ रखते है । जीव जगत ब्रह्म से भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी । भिन्न सत्ताओं को एक दूसरे से सर्वथा पृथक या विच्छिन्न ही माना जाए यह आवश्यक नहीं है । भेद तथा एकत्व दोनों एक समान यथार्थ हैं जो भिन्न हैं वह एकात्म भी है ।

जगत–

जड़ जगत के मुख्य तीन वर्ग हैं:–

(1) अप्राकृत (2) प्राकृत (3) काल

" अप्राकृतं प्राकतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतं ।
मायाप्रधानादि पद प्रवाच्यं शुक्लादि भेदाश्च समे पितत्र ।।"

अप्राकृत–

जिसकी उत्पत्ति मूलभूत आद्यप्रकृति से नहीं हुई है जैसे भगवान का लोक जिसकी श्रुतियों में परम व्योमन्, विष्णुपद, परमपद आदि भिन्न संज्ञाएँ है । दैवीय शरीर की सामग्री इसे ही रामानुज ने शुद्ध सत्त्व कहा है । यह ईश्वर की नित्य विभूति का आधारभित्ति है ।

प्राकृत–

सत्त्व, रज, तमगुण वाली प्रकृति अथवा जो कुछ इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न हुआ है । वही प्राकृत है । महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक

प्रकृति से उत्पन्न सम्पूर्ण भौतिक जगत इसी श्रेणी में आता है । यह प्राकृत ही माया प्रधान आदि नामों से कही गई है तथा इसी के शुक्ल, रक्त, पीत आदि रूप भी हैं ।

काल-

काल अचेतन पदार्थ माना जाता है । जगत के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है । काल जगत का नियामक होने पर भी ईश्वर के लिए नियम्य ही है । काल अखण्ड रूप है । स्वरूप से वह नित्य है परन्तु कार्यरूप से अनित्य है । काल का कार्य औपाधिक है । उसके लिए सूर्य की परिभ्रमण क्रिया ही उपाधि है । इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यही अप्राकृत प्राकृत तथा कालस्वरूप अचेतन तत्त्व विद्यमान है । जीवात्मा को बंधन में डालने वाला, परमात्मा को छिपाने वाला, ब्रह्म विद्या का बाधक और भक्ति का अवरोधक यह अचेतन मायातत्त्व ही इसके स्वरूप को जानने मे ही वैराग्यभावना होती है तथा इससे छुटकारा पाने के लिए ब्रह्म विद्या की उपासना ही एकमात्र उपाय है । तथा यह अविद्या का परिणाम है जो अनादिकाल से है ।

जीव के बंधन का कारण-

जीव का विशुद्ध नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप उसके अपने कर्म के कारण आवरणयुक्त हो जाता है । ईश्वर की दो शक्तियाँ है ॥1॥ निग्रह तथा ॥2॥ अनुग्रह । श्रीकृष्ण अपनी क्रीड़ा के लिए कुतूहलवश जीव को बंधन में डालने के लिए निग्रहशक्ति का आश्रय लेते हैं । निग्रह शक्ति जीव के गुणों का तिरोधान करती है । आकार के तिरोधान से जीव में अणुत्व ऐश्वर्य के तिरोधान से करता तथा विज्ञान के तिरोधान अकिंचित करता तथा विज्ञान के तिरोधानसे अज्ञता प्राप्त होती है । साधन भक्ति के निरन्तर अभ्यास से ब्रह्म की अनुग्रह

शक्ति प्रकट होती है जिससे जीवात्मा बंधनो से मुक्त होकर परमात्मा की समता प्राप्त करता है । अनुग्रहशक्ति ही भगवत्कृपा है । ईश्वर की अनुग्रहशक्ति ही उसकी स्वरूपशक्ति है तथा निग्रहशक्ति गुणशक्ति कहलाती है ।

मोक्ष का स्वरूप-

भक्त वत्सल प्रभु सदा यही चाहते है कि उनका भक्त समान हृदय एवं शोभन हृदय वाला हो तथा विद्वेष रहित होकर एक दूसरे का उपकारक बन जाते । ईश्वर की यह वत्सलता गऊ के समान होती है जैसे कि गऊ अपने बछड़े से प्रेम करती है और हित चाहती है:-

" सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषम् कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।" ॥अथर्ववेद 3/30/1॥

भक्त भी प्रभु की इस वत्सलता और हितमत्व की निरन्तर कामना करता है और मन को उसी में मग्न कर देना चाहता है श्री निम्बार्काचार्य के मत से यह जीवात्मा की मुक्ति की प्रथम अवस्था है । इसे ही वेदान्त में क्रममुक्ति कहते हैं । इस अवस्था मे जीवात्मा के संचित व क्रियमाण दोनों प्रकार के कार्मों के बंधन छूट जाते हैं । केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग शरीर के नष्ट होने तक रह जाता है:-

" तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये थ संपत्स्ये"-॥छांदो0 6/14/2॥

शरीरांत होने पर जीवात्मा परमात्का के धाम में जाकर अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है । शरीर बंधन से मुक्ति के बाद ही स्वरूप प्राप्ति होती है ऐसा ही कहा गया है यह जीवात्मा पापरहित " य आत्मा अपहत पाप्मा" इत्यादि आत्मा के गुणों को कहते हुये बाद में उसकी स्वरूप प्राप्ति कही है । जीव परमात्मा के समान गुणों वाला होकर उसी के समान तेज स्वरूप अपहतपाप्मा आदि गुणों वाला हो जाता है इस प्रकार जीव की साम्या मुक्ति होती है ।

परब्रह्म के प्रकाश से जीव को जो प्रकाश प्राप्त होता है उससे उसे [illegible] प्राप्त हो जाती है ।[1] चैतन्य स्वरूप जीव ही पापराहित्य आदि गुणों से युक्त होता है । क्योंकि अपहतपाप्मत्व तथा चैतन्य दोनों ही रूप परमात्मा के ही है और जीव परमात्मभाव को प्राप्त करता है यही बादरायण को भी अभीष्ट है । मुक्त जीव सत्य संकल्प वाला हो जाता है तथा सत्य संकल्प वाला हो जाने के कारण ही यह जीव सर्वत्र स्वतन्त्र हो जाता है । कहा भी गया है " स स्वराट् भवति"[2] (छा0 7/25/2।।) मुक्त जीव संकल्प से ही शरीरी तथा अशरीरी दोनों हो सकते हैं । मुक्त जीव का ऐश्वर्य जगत की सृष्टि आदि से भिन्न प्रकार का होता है । परमात्मा की समता होतेहुये भी मुक्त जीव सृष्टि आदि के सम्पर्क से रहित ही है । परमात्मा मायाधीश है, मुक्तात्मा मायातीत तथा बद्धात्मा मायाधीन है आचार्य का यही तात्पर्य है । परं ज्योति को प्राप्त करके मुक्त जीवात्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती ।

मोक्ष के साधन-

आचार्य निम्बार्क ने विद्या और कर्म दोनों को एक साथ मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है । कर्म की प्रधानता ही विद्या उपकारी अंगमात्र हो ऐसी बात नहीं । आचार्य ने अनासक्त कर्मानुष्ठान की प्रधानता स्वीकार की है । गृहस्थ धर्म के साथ सभी आश्रमों का समान रूप से अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा भगवान बादरायण का मत है । यज्ञ, अध्ययन, दानरूप, गृहस्थ धर्म, तप, रूप वाणप्रस्थ धर्म, गुरूकुल वास रूप ब्रह्मचर्य धर्म है इसलिए इन चारों का ही विधिवत पालन करने से ही मुक्ति की संभावना है ।

1- वे0प0सौ0-4-4-4

ब्रह्मजिज्ञासु के लिए ब्रह्म विद्या के अंगभूत अपने आश्रम के कर्तव्य कर्मों की जैसे आवश्यकता होती है वैसे ही शम, दम आदि अंतरंग साधन भी आवश्यक है:-

" तस्मादेवंविच्छांतो दांत उपरतस्तितिक्षुः समाहितो-

भूत्वा त्मन्येवात्मानं पश्येद्" ﴾बृह० 4/4/23﴿

इस प्रकार विद्या की अंग शम, दम आदि विधि हैं इसलिए उनका भी साधन अवश्य करना चाहिए । मोक्ष मार्ग के अनुगामी ब्रह्म विद्याभ्यासी उपासक को विद्या के अंगभूत यज्ञादि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए क्योंकि यावज्जीव-मग्निहोत्रं"जुहोति" ऐसा ही विधान किया गया है ।

सामान्यतः ये जो धारणा की जाती है कि उपासना सन्यास मार्ग की ही वस्तु है वह सर्वथा मिथ्या है । गीता में अनासक्त गृहस्थ को ही उपासक और सन्यासी कहकर प्रधानता दी है "अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।"

कलिकाल में एकमात्र गृहस्थाश्रम को ही साध्य माना गया है । क्योंकि युग के तामस स्वभाव के कारण असंयत प्राणियों के लिए अन्य आश्रमों का साधन कठिन हो जावेगा । कलिकाल में सन्यासी जिह्वालोलुप, कामी, अल्पज्ञ और वंचक होकर ज्ञान वैराग्य से हीन होंगे इसलिए सन्यास मार्ग अस्त हो जावेगा ।[1]

जिस प्रकार यज्ञादि कर्म और शम, दम आदि साधन ब्रह्म विद्या के सहकारी है उसी प्रकार "मौन" भी इस ब्रह्म विद्या का सहयोगी है-

" यथा यथा सदाभ्यासान् मनसः स्थिरता भवेत् ।

वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ।।"

1- " आश्रमाणां कलावेको गृहमेधी विशिष्यते ।

युगस्वभावात्प्रायो नेदुस्साध्याह्यल्पमेधसाम् ।।

मिष्टान्नकामैरल्पज्ञैर्लोपैर्वंचकैः कलौ ।

ज्ञान वैराग्य हीनैस्तु संन्यासो स्तं गमिष्यति ।" भविष्यपुराण

अर्थात् जैसे जैसे भगवद् भक्ति रूप ब्रह्म विद्या का अभ्यास होता है वैसे ही मन, श्वास, वाणी, दृष्टि की स्थिरता होती है ।

यह मौन उपदेश सभी आश्रम धर्म के प्रदर्शन के लिए है । सभी मौन का पालन कर सकते हैं केवल सन्यासी ही नहीं । पांडित्य (शास्त्रज्ञान और ब्रह्म-विद्या ज्ञान) के माहात्म्य का प्रकाश न करते हुये निरहंकार भाव से रहना ही बाल्यभाव है । ऐसा बाल्यभाव ही ब्रह्म विद्या का सहकारी है ।

ब्रह्म विद्या तथा कर्मों का अनासक्तभाव से पालन करने पर ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है । धार्मिक क्रियाओं के पालन से भगवान के प्रति भक्ति की भावना दृढ़ होती है । ब्रह्म विद्या का उपासक महात्मा यदि जीवन पर्यन्त अनासक्त भाव से कर्मानुष्ठान करता है तो यह उसकी ब्रह्म विद्या की विशेषता है । ऐसा महात्मा तो ग्रहस्थ होते हुये भी वास्तविक त्यागी है और कर्म त्यागी से अधिक स्तुत्य है । इस प्रकार ज्ञान तथा अनासक्तभाव से किया गया कर्म भक्ति से पूर्व के ही नियत अभ्यास है ।

भक्ति मार्ग-

सभी वैष्णव आचार्यों के समान श्री निम्बार्क ने भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति को ही अन्तिम साधन स्वीकार किया है । अपने दशश्लोकी ग्रन्थ में उन्होंने भक्ति के विषय में जो विचार व्यक्त किये है । उसे इस श्लोक द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा सकता है:-

" कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते, यथाभवेत् प्रेम विशेषलक्षणा ।
भार्वतह्यनन्या धिपतेमहात्मनः साचोतमा साधन रूपिकापरा ।।"

अर्थात् एकमात्र प्राणपति की प्रेम विशेष लक्षणा भक्ति जैसे अनन्य उपासक महात्मा की दीनता आदि से प्राप्त होती है उसी प्रकार इस करुणा

पश्चात्य प्रभु की भी उस शरणागत भक्त पर अपार कृपा होती है । वह प्रेमा भक्ति ही उत्तमा परा भक्ति है । दूसरी भक्ति साधन रूपिका वैधी भक्ति है ।

प्रस्तुत श्लोक से यह स्पष्ट हो रहा है कि निम्बार्क ने भी भक्ति की प्रक्रिया में ईश्वर की कृपा को ही सर्वोच्च स्थान दिया है । प्रभु की यह कृपा सर्वात्मना आत्मसमर्पण के बाद ही प्राप्त होती है । श्री निम्बार्क के अनुसार भक्ति की उपासना नहीं अपितु प्रेम व श्रद्धा है ।

गुरू आश्रय-

परमात्मभाव या मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधक को श्री गुरू चरणों का आश्रय ग्रहण करना परम आवश्यक है । भक्ति की अहर्निश साधना और भक्ति रस में निमग्न महापुरूष ही गुरू पद के अधिकारी है । आचार्य या गुरू उन्हें ही कहा गया है जो स्वत: तो साधक हो साथ ही साधना द्वारा शिष्य का उद्धार कर सके । जो शास्त्रीय आचार धर्म का स्वयं आचरण कर सके और भगवद्भक्ति से स्वयं कृतार्थ हो जावे:-

" आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमयमाचरते यस्तु स आचार्य उदाहृत: ।।"

निम्बार्क के मत में गुरू होने का अधिकार ब्राह्मण को ही है । क्योंकि वेदों में ब्राह्मणों की महत्ता कही गई है तथा जन्मना ही जाति मानी गई है । यह मान्यता अनेक स्मृतियों में भी पाई जाती है । श्री निम्बार्क तथा शंकराचार्यादि भी वेदों की इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं ।आचार्य निम्बार्क ने तो श्री राधा को ही परमात्मा से मिलाने वाली परमाचार्य बताया है । भगवती श्री राधा ही प्रधान गुरू हैं । निम्बाकाचार्य जी के गुरू श्री नारद भी " यथा ब्रज गोपिकानां" कहकर गोपियों की उपासना को महत्त्व देते

है । प्रेमाभक्ति का आचार्यत्व सिवा गोपियों के और दूसरा कर भी नहीं सकता । गोपीश्वरी भगवती श्री राधा इनमें सर्वप्रथम हैं । अहर्निश भगवच्चिंतन रस में आकण्ठ मग्न रहने वाली श्री जी हैं अतएव प्रेमाभक्ति की बड़ी आचार्या हैं । जीव को ब्रह्म की ओर पहुँचाने वाला गुरू ही है । ब्रह्म विद्या का प्रधान पद प्रणव ॐ से भी यही अर्थ द्योतित होता है । यह ॐ पद तीन अक्षरों के संयोग से बना है अ + उ + म् । इसमें अकार का तात्पर्य ब्रह्म से है (अक्षराणामकारोऽस्मि) उकार का तात्पर्य गुरू से है (उन्नयति उत्थापयति वा उः गुरूः) । मकार का तात्पर्य जीव से है (जैसे अक्षरों में पच्चीसवाँ अक्षर मकार है वैसे ही 24 तत्वों के निर्मित इस देह में पच्चीसवाँ चेतन तत्व जीव है) । इस प्रकार गुरू ही जीव को ब्रह्म के समीप पहुँचाता है यही इस "ॐ" पद का रहस्यार्थ है । गुरू के प्रति शरणापन्न होना प्रत्येक मुमुक्षु का अनिवार्य कर्तव्य है । कहा गया है कि:-

" आदौ गुरौ न्यसेत् प्राणान् आत्मानं धनमेव च ।

सर्व संबंध विषयं कृत्वा सेवेत नित्यशः ।।"

सर्वप्रथम गुरू में प्राणों का त्याग करे फिर आत्मा और धन को इस प्रकार सांसारिक सम्पूर्ण विषयों को गुरू विषयक करके निरन्तर उनकी सेवा करे । यहाँ प्राणों का तात्पर्य इन्द्रियों की वृत्ति से है । इन्द्रियों की दुर्जेय वृत्तियों को गुरू के द्वारा बतलाये गये मार्ग से साधना करने से मन में संयम होता है । क मन के संयत हो जाने पर अंतःकरण कीवासना की ग्रंथि, जो कि जीवात्मा में स्वत्व के रूप में चिपक गई है छूट जावेगी । यही प्राणों, आत्मा और धन के त्याग का तात्पर्य है ।

वासना की कठिन और घनी धूलि से ढके होने के कारण जीवात्मा का नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप अन्धकारमय हो जाता है । उसे हटाने के लिए एकमात्र उपाय ब्रह्म विद्या की उपासना ही है । उपासना शास्त्रों

में पढ़ लेने अथवा स्वत: ही उस पढ़े के अनुसार करने से कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती है । उसके लिए गुरू परंपरा का होना अत्यावश्यक है । आचार्य ने इसीलिए गुरूनारद और परमगुरू सनकादि मुनियों की परंपरा का उल्लेख कर उनसे प्राप्त ब्रह्म विद्या की उपासना की अनिवार्यता कही है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में उन्होंने स्पष्ट कहा है:-

" उपासनीयं नितरांजनै: सदा, प्रहाणये ज्ञानतमो नुवृते: ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिल तत्त्व साक्षिणे ।।"

भगवत्कृपा-

एकमात्र आश्रय प्राणपति की प्रेम विशेष लक्षणा भक्ति जिस प्रकार अनन्य उपासक भक्त की दीनता आदि से होती है उसी प्रकार करूणा वरूणालय प्रभु की भी उस शरणागत भक्त पर अपार कृपा होती है । अपने दशश्लोकी के इस श्लोक में आचार्य निम्बार्क ने भक्त की दीनता एवं प्रभु की कृपा के विषय में प्रकाश डाला है:-

" कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते, यथाभवेत् प्रेम विशेष लक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मन: साचोत्तमा साधन रूपिकापरा ।।"

ईश्वर की कृपा से प्राप्त प्रेमा भक्ति ही उत्तमा या परा भक्ति है । दूसरी तो साधन रूपिका या वैधी भक्ति है । भक्ति की यह प्रेमाभक्ति रूपी सिद्धावस्था साधक के जगत और जीवों के प्रति दैन्य अर्थात मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा के भाव से तथा भगवत्कृपा से प्रकट होती है । साधु चरित्र भगवद् भक्तों से मैत्री, दुर्बोध अज्ञानियों की हीन दशा पर करूणा, प्राणिमात्र से प्रेम करते हुये यथाशक्ति सेवा में संलग्न रहना मुदिता तथा दुष्ट स्वभाव पापाचरण में संलग्न पापियों से जिस किसी प्रकार भी छुटकारा पाना उपेक्षा है । इन चार भावों से भक्त का अन्त:करण शीलयुक्त हो जाता है यही दैन्यभाव है । भक्त के इसी दैन्य भाव के अनुरूप ही भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है तथा यह भगवत्कृपा ही साधक के अन्तकरण में प्रेमा भक्ति को प्रकट

करता है । प्रेम- प्रेम को भी इन्होंने पराभक्ति माना है साध्य भक्ति में इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा । भक्त के लिए आवश्यक रूप से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं:- उपास्य का रूप, उपासक का रूप, कृपा का फल, भक्ति का रस और इन चारों के विरोधी रूप को भली प्रकार समझना ।

॥1॥ सत्ता का स्वरूप-

परमात्मा सच्चिदानन्द हैं । उनका शरीर अलौकिक है । वे ब्रज में निवास करते हैं जिसकी संज्ञा व्योमपुर है । वे समस्त भूतों के कारण हैं । सर्वशक्तिमान, मृदु तथा अपने भक्तों के प्रति दयालु एवं अनुकम्पायुक्त हैं ।

॥2॥ उपासक का स्वरूप-

वह अणुरूप है ज्ञान और आनन्द से युक्त है तथा कृष्ण का दास है ।

॥3॥ ईश्वर की अनुकम्पा का फल-

आत्मनिक्षेप तथा आत्मनिक्षेप में परिणत होने वाली भगवद् सेवा के अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मों का परित्याग ।

॥4॥ भक्ति से फलित आनन्दानुभूति-

शान्ति, सेवावृत्ति, सौहार्द, वात्सल्य एवं उत्साह में इसका उदय होता है । इन मनोदशाओं से ईश्वर के साथ विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित होता है । जैसे कि वात्सल्य नन्द, वासुदेव एवं देवकी के भाव है तथा उत्साह राधा और रूक्मिणी के ।

॥5॥ ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाय-

शरीर को आत्मा समझना, ईश्वर एवं गुरू के अतिरिक्त अन्यों का आश्रय लेना, शास्त्रों में विद्यमान ईश्वर के आदेशों के प्रति विराग, अन्य

देवों की [illegible], अपने विशिष्ट कर्तव्यों का त्याग, अकृतज्ञता, असच्छास्त्र में गोपन-भाषण, सत्पुरुषों की निन्दा तथा अन्य अनेक बातें ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाय है ।

इन सभी पाँचो तत्वों की भलीभाँति जानकारी होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है ।

श्री निम्बार्क की रसोपासना में हित तत्व-

श्री निम्बार्काचार्य की रसोपासना में हित भाव की एक विशेष महत्ता है । रस स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति हित मार्ग की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । हित साधन आध्यात्मिक योग साधना है । कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्की प्रतर्दन विधा में इन्द्र ने प्रतर्दन को हितोपासना का उपदेश दिया है । श्री निम्बार्क परमात्मा के हिततम गुण को प्राण का कारण बतलाते हैं और ब्रह्म मानते हैं । इस हित को ही भूमा भी कहा है । भूमा विधा ही निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान उपासना है । प्राण तत्व तो हित का अनुगमन करता है । हित प्राण का अंगी है प्राण हित का अंग है इस प्रकार अंगांगी भाव से इन दोनों में व्दैताव्दैत सम्बन्ध है । हित तत्व अज्ञेय अनिवर्चनीय है । यही रस है इसी को प्राप्त कर प्राण आनन्दित होता है । हित प्राण का पोषक, कल्याणमय, कृपालु, अमृत, आनन्दमय उपास्य तत्व है ।[1] हित ही प्रेम तत्व है । सकाम प्रेम वासना है निष्काम प्रेम हित है । हित की प्राप्ति लीला व्दारा होती है । किं वा लीला में ही हित की अनुभूति होती है । ब्रह्म की लीला ही भक्तों के पोषण के लिये होती है । यह पोषण ही हित है ।

और ये भी हित हैं इसीलिए ये सभी हित के अंश होने के कारण हित है ।
इसलिए त्रिविध प्राण, प्राणपति और सहचरी इन भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता
का हित सम्बन्ध होगा । हित की उपासना ब्रह्म की उपासना है अतएव
ये तीनों ही ब्रह्मरूप उपासना में माने जावेंगे जैसा कि सर्वं हि विज्ञानमतो
यथार्थं आदि दशश्लोकी के श्लोक में श्री निम्बार्क ने कहा है ।

हितोपासना में वैधी भक्ति को गौण माना गया है । श्री निम्बार्काचार्य ने क्रिया को गौण रूप दिया था । क्रिया को वे सहायक साधन मानते थे परन्तु क्रिया के पालन आवश्यक कहते थे । साधनावस्था में तो क्रिया की महत्ता स्वीकार करते ही थे । सिद्धावस्था में भी क्रिया को आवश्यक मानते थे । इसके दो कारण थे, एक तो महान व्यक्तियों के आचरण का सामान्य लोगों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है:- "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः सयत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।" गीता 3/21 । दूसरे क्रिया में शिथिलता आने पर पतन होने की आशंका रहती है:-

" भवतु निश्चयदाढ्यार्दूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् अन्यथा पातित्याशंकया ।"

-{ना0भ0सू0 12-13}

आचार्य निम्बार्क ने अंतः शौच के विधायक पाँच संस्कारों को बड़ा महत्त्व दिया था । नारद पाँचरात्र के अनुसार श्री निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र और याग ये पाँच संस्कार हैं । इन संस्कारों की ऐकान्तिक हितोपासना का मुख्य हेतु कहा गया है:-

" तापं पुंड्रं तथा नाम मंत्रोयागश्च पंचमः ।
अमी हि पंच संस्काराः परमैकांत हेतवः ।।" नारद पाँचरात्र

ताप-

श्री निम्बार्क ने व्रत या उपवास को ही प्रधान तप कहा है । आचार्य ने द्वादशी से स्पृष्ट एकादशी व्रत का विशेष महत्त्व कहा है जिसका तात्पर्य

होता है कि ग्यारह इन्द्रियों के साथ अहंकार का भी संयमन करना चाहिए । एकादशी व्रत में सर्व प्रधान इन्द्रिय मन को वशगत करने के लिए मौन का विशेष विधान किया गया है । व्रत के तीन रूप है कायिक, वाचिक, मानस । एक बार सूक्ष्म आहार अथवा बिना किसी प्रकार की कष्टानुभूति किये ही दिन भर आहार न करना कायिक{शरीर को शुद्ध करने वाला} व्रत है । शास्त्रीय तत्वों का मनन, भगवान का नाम कीर्तन, सत्यभाषण तथा वाणी से किसी की निन्दा आदि न करना वाचिक व्रत{वाणी को शुद्ध करने वाला व्रत है} मन से किसी का भी अहित न करना उसके हित का ही चिन्तन करना, किसी की वस्तु को चुराने की इच्छा तथा किसी के वैभव और सुख को देखकर ईर्ष्या न करना, मन को किसी भी प्रकार दूषित न होने देना और मन को शांत रखना यह मानस {मन को शुद्ध करने वाला} व्रत है । इन्द्रियों की वृत्तियाँ तो उपचारा करने से शांत हो जाती है लेकिन सांसारिक राग तो तभी छूट सकता है जबकि वह परं रस का अनुगामी हो जावे । सांसारिक अल्प सुख बहुल भूमा सुख को जानने के बाद तुच्छ प्रतीत होने लगता है । इसलिए परं सुख को जानने के लिए तप {व्रत} के अतिरिक्त अन्य भी संस्कारों की आवश्यकता होती है ।

पुण्ड्र-

गोपी चंदन का तिलक मस्तक आदि बारह शरीर के अवयवों में लगाया जावे उसे पुंड्र संस्कार कहते हैं । चंदन का लेप करने से शीतलता, तेज, कांति, स्फूर्ति का संचार होता है तथा भगवच्चिंतन में संलग्नता होती है । मिट्टी की शक्ति प्राकृतिक दृष्टि से सम्मान्य है । गोपी चंदन की मिट्टी विशेष शक्ति सम्पन्न है । नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले रक्त की शुद्धि चंदन के लेप से होती है । इसी प्रकार तुलसी की माला को कंठ में धारण करने का विधान भी वैज्ञानिक है । तुलसी वृक्ष का प्रत्येक अवयव गुणकारी कहा गया है ।

विजातीय कीटाणुओं का संहनन, कफ का शमन, धातु का संचयन, पित्त का समीकरण आदि तुलसी के विशेष गुण हैं । कंठ शरीर के समस्त अवयवों में सर्वाधिक संवेदनशील संधि स्थल है । शरीर में होने वाले विषाक्त विकारों की सूचना सर्वप्रथम कंठ में निकलने वाली ग्रंथियों से मिल जाती है । इसलिए तुलसी की कंठी को धारण करने से देह की सर्वाधिक शुद्धि होती है ।

नाम–

वैष्णवों ने जो नाम संस्कार को भी अपनी उपासना का एक अंग माना है । उसका कारण है उनकी एक निष्ठता और भगवन्नाम के प्रति गाढ़ानुराग । वैष्णव का नाम उपास्यमय हो, उसका कर्म उपास्यमय हो तभी वह उपास्य के स्वरूप की प्राप्ति कर सकते हैं । अनुकरण से अनुरूपता स्वाभाविक रूप से आ ही जाती है । समानता प्राप्त करना ही श्री निम्बार्काचार्य के मत में भगवद्भाव की प्राप्ति नामक मुक्ति का स्वरूप है ।

मंत्र–

संस्कारों में पुंड्र (चिह्न = तिलक और कंठी) तथा नाम ये दो बाह्य संस्कार हैं । तप बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों प्रकार का है । मंत्र और याग आभ्यंतर संस्कार है । मंत्र संस्कार का सम्बन्ध मन से है । मंत्र के अविच्छिन्न अभ्यास को जप कहते हैं । जप तीन प्रकार के कहे गये हैं– वाचिक, उपांशु और मानस । वाचिक जप में वाणी के द्वारा मंत्र का उच्चारण होता रहता है । उपांशु जप में शब्द का उच्चारण तो नहीं होता परन्तु जीभ ओठ इत्यादि हिलते रहते हैं । मानस जप में मंत्र का अभ्यास मन में ही चलता रहता है । मंत्र के स्वरूप में भगवान का चिंतन करने से विघ्नों का अभाव और जीवात्मा के रूप का ज्ञान हो जाता है । मंत्र के प्रभाव से मन की शक्ति अपार हो जाती है । मन का समाधान हो जाने से सारी इन्द्रियों का समाधान हो जाता है ।

मन से ही परमात्म तत्व को पाना जा सकता है ।[1] इसलिए मंत्र के व्दारा मन को संयमित किया जाता है । तंत्रशास्त्र में जैसे शक्ति को बढ़ाने की इच्छा होती है वैसे ही मन्त्र का विधान किया गया है । एक ही मन्त्र को विभिन्न विधियों से जपने से भी विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं । इन शक्तियों को प्राप्त कर लेना ही सिद्धि है । ये सकाम मन्त्रों के अनुष्ठान की विधि है । श्री निम्बार्क निष्काम मन्त्रानुष्ठान की आज्ञा देते हैं । निष्काम मन्त्रानुष्ठान से परमात्मा के समान महान शक्ति प्राप्त होती है । सर्व सामर्थ्य हो जाता है । मन स्वच्छतम हो जाता है । मन की अपार शक्ति में सारी इच्छा आदि शक्तियाँ डूबकर विलीन हो जाती है ।मन्त्र व्दारा उपास्य का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है ।[2] ब्रह्म विधा का बीज मंत्र "क्ली" है । "क्ली" तथा ऊँ दोनों एक ही रूप हैं तथा मोक्षदायक हैं । इन मन्त्रों की उपासना से जीव की सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती है ।

याग-

याग संस्कार का तात्पर्य भगवतचर्या अर्थात् इन्द्रियों की सम्पूर्ण भोग वृत्तियों को भगवान में ही समर्पण कर देना है । श्रुति में विष्णु को ही यज्ञ कहा गया है । सम्पूर्ण वृत्तियों से संगठित उपासक की मनोवृत्ति का ईश्वर में तन्मय हो जाना ही भक्ति योग है । आचार्य ने इस आत्म हवन से जीवात्मा को कृत्कार्य माना है और सांसारिक बन्धनों से मुक्ति का प्रधान साधन कहा है । यह तन्मय योग भगवान की प्रतीकोपासना से होता है । भगवान की प्रतिमा की अर्चना से इन्द्रियों वृत्तियों का एकीकरण होने लगता है । इस योग का अभ्यास आभ्यंतर और बाह्य दोनों प्रकार से किया जा सकता है । बाह्य अभ्यास के लिए प्रतिमा पूजन का विधान है । आभ्यंतर अभ्यास में मन को ही प्रतिमा मानकर पूजन किया जाता है । श्री निम्बार्क ने आभ्यंतर उपासना अधिक बल दिया है ।[1] प्रथम श्रेणी के साधकों के लिए बाह्य अर्चना का तथा उच्च श्रेणी के साधकों के लिए आभ्यंतर उपासना का

विधान है । इन संस्कारों से चित्त की प्रशांत वाहिता स्थिति हो जाती है अर्थात् सारी वृत्तियाँ एक रस होकर प्रवाहित होती है ।

वैष्णवों के उन पाँच संस्कारों में से याग के भीतर ही भक्ति का अन्तर्भाव माना जाता है । श्री निम्बार्क द्वारा लिखित दशश्लोकी पर हरिव्यासदेव जी की टीका सिद्धान्त रत्नाञ्जलि में भक्ति के नाना प्रभेदों का वर्णन उपलब्ध होता है जिसे इस ज्ञापक चित्र के द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा सकता है:-

रागात्मिका भक्ति-

वैधी भक्ति रूपी साधन के सहयोग से रागात्मिका भक्ति का प्रादुर्भाव होता है । यह रागात्मिका भक्ति रसमय है । निम्बार्काचार्य ने भक्ति में दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन चार रसों को ही स्वीकार किया है । इसलिए इन्होंने रागात्मिका भक्ति को प्रियावत्, पुत्रवत्, सख्यवत् और दास्यवत् कहा है । श्री निम्बार्क के गुरू श्री नारद के मत में ये चारों रस ही वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, दास्यासक्ति तथा कान्त्यासक्ति हैं ।[1] इसीलिए कृष्ण पद में भृत्य की रक्षा का भाव, गोविंद में पुत्र के पोषण का भाव, गोपीजन में मित्र के साहचर्य का भाव तथा वल्लभ में प्रिया के कान्त का भाव समाहित है ।
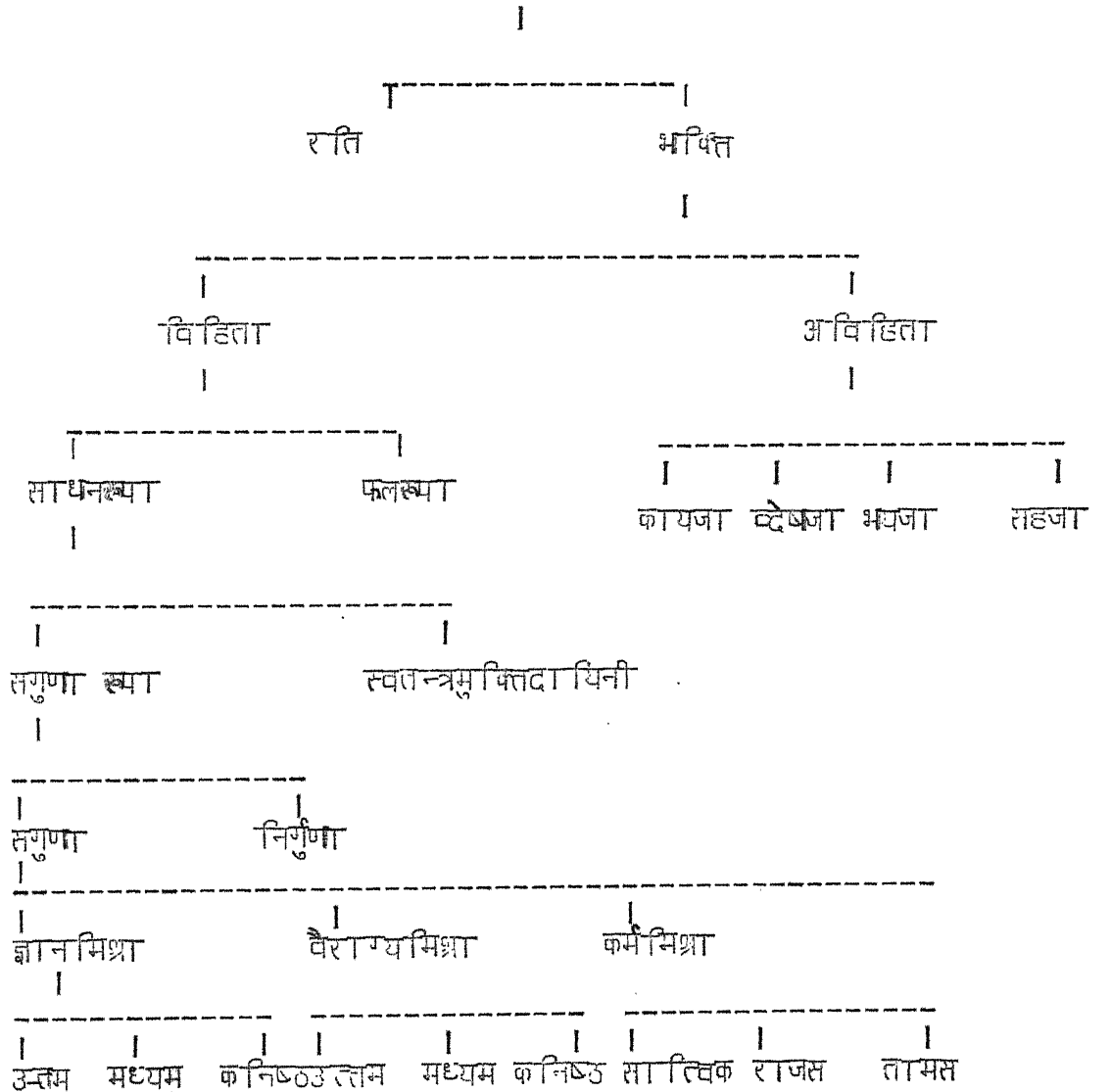
दास्यभाव-

परमात्मा दास्यभाव के उपासक को आत्मसात् कर पापों से मुक्त कर देते हैं । कृष्ण नाम इसी का द्योतक है:-

" कृषिर्भूवाचक: शब्दो णश्च निवृत्तिवाचक: ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।"

(पापों की सत्ता को ही जो समाप्त कर दे वह कृष्ण ही ब्रह्म है ।)

जिस प्रकार सेवक के सम्पूर्ण कार्य अपने स्वामी के लिए होते हैं उसका अपना कुछ भी नहीं होता उसी प्रकार जीवात्मा को भी अपना सब कुछ श्रीकृष्ण का ही समझना चाहिए । अपना अहं परमात्मा के त्वं रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए । " त्वदीयं वस्तु गोविंदं तुभ्यमेव समर्पये" (आपकी वस्तु आपको ही समर्पित हो) ऐसा भाव दास का ही होता है और ऐसे दास की स्वामी हर प्रकार से रक्षा करते हैं:-

" सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्व भूतेभ्योददाम्यैतदव्रतं मम ।।" (वाल्मिक रामायण)

अर्थात् एक बार भी तुम्हारे आत्मा और आत्मीय के भार को समर्पण करने वाले दास के मुख से यह निकल जाता कि " मैं तुम्हारा हूँ " तो मैं उसे अपनाकर निर्भय बना देता हूँ । उसे नित्य मुक्त करता हूँ और उसको पापों से छुड़ाकर निर्भय कर देता हूँ। यह मेरी प्रतिज्ञा है ।

इस प्रकार का दास्यभाव सर्वात्मना आत्मसमर्पण के बाद ही संभव है । ये आत्मसमर्पण तो भक्ति का प्रमुख तत्व है ही जिसे पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है ।

वात्सल्यभाव-

श्रीकृष्ण पुत्र भाव के उपासक को अपने गोद में उठाकर अपने सामीप्य का आनंद प्रदान करते हैं । उनका गोविंद नाम इसी भावना का द्योतक है:-

" गां इंद्रियं विंदति पुष्यति इति गोविंद: ।

। जो इंद्रियों का पोषण करे वह गोविंद है ।।

यदि उपासक स्वयं को हर प्रकार से अबोध बनाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के आश्रित हो जाये तो वह अपनी कृपापूर्ण दृष्टि उस भक्त पोषण करते रहते हैं । इंद्रियों में प्रधान मन है, उस मन को बिल्कुल अबोध बनाना ही बाल भाव है । दास्य भाव में अहंकार को स्वामी के चरणों में अर्पित करने से जो निर्मलता आती है वह पांडित्य भाव है । पांडित्य के माहात्म्य का प्रकाश न करते हुये निरहंकार भाव से रहना ही बाल्य भाव है ।

" स्मरणालोकनस्पर्शैः कूर्ममीन विहंगमाः ।

यथा पुष्णंत्यपत्यानि तथा पुष्णाम्यहं शिशून ।।" ।पद्मपुराण।

सख्य भाव-

परमात्मा सख्य भाव के उपासक को अपने साहचर्य के द्वारा अपने समान ही ऐश्वर्य, उपानन्द और भोग प्रदान करते हैं। गोपीजन पद इसी सख्य भाव की पुष्टि करता है:-

" गोपयति जनं पुमांसं रक्षति इति गोपीजनः ।"

{जो जीव की हर प्रकार से रक्षा करे वह गोपीजन है ।}

जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र की सदा हर प्रकार से रक्षा कर उसके साथ समता का ही भाव रखता है। उसी मित्रता का भाव एक उपासक को परमात्मा के साथ रखना चाहिए। फिर ईश्वर उसका कभी भी साथ नहीं छोड़ते हैं। जैसा कि गीता में स्वतः भगवान ने मित्रवत् भाव के उपासक के लिए कहा है:-

" अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।।" {गीता 9-30}

" अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।" {गीता 9-22}

अर्थात् भगवान कहते हैं कि मुझे जो अनन्य सखा मानकर भजता है वा चाहे मेरे साथ विश्वासघात भी करे {सांसारिक माया में पड़कर मुझे भूल भी जावे} पर मैं उसके इस प्रमाद महत्त्व न देकर उसके साथमित्रता के साधु व्यवहार का ही पालन करता हूँ क्योंकि वह पूर्णरूपेण मेरे ही आश्रित है तथा जो अनन्य प्रेमी सख्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों को योग[1], क्षेम[2] की चिन्ता स्वयं मुझे करनी

भगवत्स्वरूप की प्राप्ति का नाम "योग" है।

भगवत्प्राप्ति के निमित्त किये हुये साधन की रक्षा ही "क्षेम" है।

पड़ती है ।

" मित्र भावं संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।

दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतद गर्हितम् ।।" (वाल्मीकि रामायण)

प्रियावत भाव-

इसे ही अन्यत्र कान्तासक्ति कहा जाता है जहाँ पति या प्रेमी रूप से ईश्वर की उपासना की जाती है । श्रीकृष्ण प्रियावत भाव के उपासक को अपने हृदय से लगाकर स्वकीय रसोल्लास से पूर्ण कर अपने अद्भुत महाप्रकाश से प्रकाशित कर स्वरूप शक्ति यानि भगवद्भावापत्ति रूप सारूप्य मुक्ति प्रदान करते हैं । वल्लभ पद इसी भाव का द्योतन कर रहा है:- "स्वामी नियंता आश्रयोवल्लभ:" अर्थात् स्वामी, शासक तथा आश्रयदाता को ही वल्लभ कहते हैं । वत् + लभ = वल्लभ या समान प्राप्ति प्रियावत भाव में ही हो सकती है । क्योंकि प्रिया और प्रियतम में अङ्गांगि संबंध रहता है ।

प्रियतम की प्रिया पर दास्य भाव की कृपा, वात्सल्य का स्नेह, सख्य की प्रीति एकरस होकर प्रणय के गाढ़ानुराग रूप से प्रकट हो जाते हैं । अन्त:करण के आठों भाव-रति, त्रास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय एकत्र होकर प्रेम के महाभाव में एकरस हो जाते हैं । प्रिया के आठों भाव मिलन एवं विरह के मध्य झूलते रहते हैं । दोनों प्रकार के भावों की समष्टि से महोल्लास युक्त चित्त का जो महाभाव प्रकट होता है वही परमानन्द है, स्वरूप प्रकाश है, वृन्दावन रस है । ये आठों भाव एकरस होकर केन्द्रित हो जाते हैं । वह केन्द्र स्थल ही वृन्दावन की निकुंज गुहा है ।

" तामन्मनस्कामद्गतप्राणा मदर्थेत्यक्तदैहिका: ।

मामेवदयितं प्रेष्ठं आत्मानं मनसा गता:

ये त्यक्त लोकधर्माश्च मदर्थैतान् बिभर्म्यहम् ।।" (भागवत 10/46/4)

अर्थात् जो प्रियाभाव से मुझमें मन, प्राण और दैहिक आसक्ति को समर्पित कर, मुझे ही स्वामी प्राणधन मानकर लौकिक और वैदिक कर्मों की कामनाओं को भी मेरे लिए त्यागते हैं मैं उनको आप्तकाम कर देता हूँ क्योंकि मैं ही उनका एकमात्र शरण्य स्वामी हूँ । यही पराभक्ति साध्य भक्ति है ।

वास्तव में निम्बार्क सम्प्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति को साधना मार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है । आचार्यों ने इस पराभक्ति का लक्षण भी बड़े ही सुन्दर रूप में दिया है:-

" रूपादिविषयक इन्द्रिय वृत्तिवदनवच्छिन्नस्वाभाविक भगवत्स्वरूप गुणादिविषयक यावदात्मवृत्तिर्मनोवृत्ति:"

अर्थात् भगवान के रूप, गुण आदि के विषय में समग्र चित्त को व्याप्त कर लेने वाली मनोवृत्ति उत्कृष्ट भक्ति है । साध्य भक्ति में इस प्रकार की चित्तवृत्ति के अभ्युदय पर आग्रह है चाहे वह सख्यभाव से अथवा दास्य आदि किसी अन्य भाव से हो । माधुर्य रस की उत्तमता सिद्ध होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अन्य रस हेय दृष्टि से देखे जाते हैं । श्रीभट्ट तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य ने भी जो माधुर्य रस के ही मान्य उपासक माने जाते है, वात्सल्यादि भावों का भी अनुकरण किया है । वैसे आजकल निम्बार्क सम्प्रदाय में सख्य रसपूर्वक माधुर्य रस की ओर ही साम्प्रदायिक साधकों का विशेष झुकाव है ।

निष्कर्ष-

भक्ति तत्त्व के सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्री निम्बार्क ने मोक्ष के लिए श्रीकृष्ण की चरण सेवा को ही मुख्य उपाय माना है । क्योंकि भगवान कृष्ण ही परमेश्वर है जिनकी वन्दना ब्रह्मा, शिव, आदि समस्त देवता किया करते हैं । उनकी शक्तियाँ अचिन्तनीय है जिनके बल पर वे भक्तों का क्लेश दूर कर देते हैं । कृष्ण ही परम उपास्य देवता है:-

" नान्या गति: कृष्णपदारविन्दात्
सदृश्यते ब्रह्मशिवादि वन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्य विग्रहात्
अचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ।।" (दशश्लोकी, श्लोक 8)

आचार्य मध्व के अनुसार प्रपत्ति अथवा ईश्वर के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण के व्दारा ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है । भगवान प्रपन्न. व्यक्तियों के अन्दर भक्ति भाव उत्पन्न करते हैं । तब भक्ति की साधना करते हुये साधक को भगवत्प्राप्ति होती है । ईश्वर दैन्यादि गुणों से युक्त भक्त पर ही अपना अनुग्रह करते हैं ।

आचार्य निम्बार्क ने मुमुक्षु के लिए गुरू के आश्रय की महत्ता को स्वीकार किया है तथा उन्होंने सर्वश्रेष्ठ गुरू श्री राधा को ही माना है क्योंकि अहर्निशभगवच्चिंतन रस में आकण्ठ मग्न रहने वाली श्री जी ही है अतएव प्रेमाभक्ति की वही आचार्या हैं । निम्बार्काचार्य के अनुसार प्रत्येक साधक के लिए उपास्य का रूप, उपासक का स्वरूप, ईश्वरीय कृपा का फल भक्ति का रस तथा ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाद इन पाँच तत्त्वों को जानना अत्यावश्यक है । इन्होंने साधन भक्ति में पाँच प्रकार के वैष्णवीय संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया है । ताप, पुंड्र, नाम, मंत्र, याग । प्रेमपूर्वक ईश्वर के अवतारों के स्वरूप का ध्यान उनके मंत्रों का जप, उनके नामों का कीर्तन और लीलाओं का स्मरण प्रत्येक साधक के लिए कल्याणकारी होता है । निम्बार्क चार प्रकार के भावों को साध्य भक्ति के लिए स्वीकार किया है:- दास्य, वात्सल्य, सख्य व माधुर्य । क्योंकि रागात्मिका भक्ति ही साध्य भक्ति है । यह अन्त:साधन है । इस प्रकार इन्होंने

भी भक्ति के दोनों भेदों (साधन व साध्य) का स्पष्ट वर्णन किया है ।
श्री निम्बार्क ने भक्ति को उपासना का रूप न देकर ईश्वर के प्रति प्रेम व श्रद्धा स्वरूप माना है । इनके अनुसार दैन्यादिगुणों से युक्त होकर तथा अनन्य शरणागति से ही भगवत्कृपा के द्वारा मोक्ष संभव है ।

वल्लभाचार्य

वैष्णव सम्प्रदाय चतुष्टयी में वल्लभ सम्प्रदाय रूद्र सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है । इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक थे विष्णु स्वामी तथा इसके मध्ययुग प्रतिनिधि थे वल्लभ । वल्लभ ने विष्णु स्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर आरूढ़ होकर उनके सिद्धान्त का प्रचार किया ।

विष्णुस्वामी-

विष्णुस्वामी के देश तथा काल की यथार्थ विवेचना अभी तक नहीं हो पाई है । वैष्णव सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी द्रविड़ देश के किसी क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मन्त्री के सुपुत्र थे । बचपन से ही इनकी चित्तवृत्ति अध्यात्म की ओर लगी थी । बृहदारण्यक उपनिषद् ‡5/4‡ में वर्णित अन्तर्यामी भगवान के साक्षात्कार की उनके हृदय में प्रबल इच्छा थी । उपासना के सफल होने पर इन्हें किशोर मूर्ति वेणुवादन-तत्पर श्रृंगार शिरोमणि श्री श्यामसुन्दर का अलभ्य दर्शन प्राप्त हुआ । बालकृष्ण ने स्वयं उपदेश दिया कि "निराकार एवं साकार दोनों रूप मेरे ही है ।" तब आचार्य ने कृष्ण की बालमूर्ति का निर्माण कराकर प्रतिष्ठा की एवं अपने अनुयायियों को भक्ति की विमल साधना का उपदेश दिया । विष्णुस्वामी की सर्वज्ञ-सूक्त ही एकमात्र ऐसी रचना है जो प्रमाणकोटि में अंगीकृत है ।

श्री वल्लभाचार्य-

श्री वल्लभ का जन्म 1535 सं0 में वैशाख कृष्णा एकादशी को मध्य प्रान्त के रायपुर जिला के चम्पारन नामक स्थान में हुआ । इनके पिता माता तैलंग ब्राह्मण थे जिनका नाम लक्ष्मणभट्ट तथा एल्लमागारू था । लक्ष्मण भट्ट काशी में ही हनुमान घाट पर रहते थे परन्तु यवनों के आक्रमण की आशंका से काशी छोड़कर दक्षिण जा रहे थे । तभी रास्ते में इनका जन्म हुआ ।

वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा दीक्षा, पठन-पाठन काशी में हुआ । गोपालकृष्ण इनके उपास्य कुल देवता थे । इन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर एक नवीन भक्ति मार्ग को भी जन्म दिया जो "पुष्टिमार्ग" कहलाया ।दार्शनिक जगत में इनका मत "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है । इनके जीवन की घटनाएँ काशी, अरैल तथा वृन्दावन में घटित हुईं । राजनैतिक पुरुषों के ऊपर भी इनका व्यापक प्रभाव बतलाया जाता है । अकबर ने इनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी की तपस्या तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें दी जहाँ जहाँ सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया ।

वल्लभाचार्य के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना विजयनगर के महाराजा कृष्णदेव राय के द्वारा किया गया "कनकाभिषेक" है । इन्होंने भारतवर्ष के तीर्थों की अनेक बार यात्रा की तथा अपने मत का प्रचार किया । ब्रज में भी इसी प्रसंग में वे पधारे ‡ सं0 1549-1492 ई0‡ तथा अंबाले के एक धनी सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी का एक मन्दिर बनवा दिया । यहीं रहकर आचार्य ने पुष्टिमार्ग की अर्चा तथा सेवा विधि की पूर्ण व्यवस्था की । 52 वर्ष की अवस्था में ‡ 1587 वि0-1530 ई0‡ में इन्होंने काशीधाम में ही अपना शरीर त्याग दिया ।

रचनाएँ-

‡1‡ अणुभाष्य- ब्रह्मसूत्र पर भाष्य केवल $2\frac{1}{2}$ अध्यायों का ।

‡2‡ पूर्व मीमांसा भाष्य

‡3‡ तत्त्वार्थ दीप निबन्ध‡शास्त्रार्थ सर्वनिर्णय तथा भागवतार्थ प्रकरण और उनकी टीका‡

‡4‡ सुबोधिनी ‡श्रीमद्भागवत की आध्यात्मिक भावापन्न टीका और कारिकाएँ जो केवल प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम तथा एकादश स्कन्धों पर ही उपलब्ध होती है ।

§5§ षोडशग्रन्थ- सिद्धान्त विवेचक ।6 प्रकीर्ण ग्रन्थ ।

इसके अतिरिक्त श्रुतिगीता, गायत्रीभाष्य, भगवत्पीठिका, सिद्धान्तलोक, सेवाविरण भी उनके अन्य ग्रन्थ हैं ।

सिद्धान्त-

दार्शनिक जगत में श्रीवल्लभ का सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है । इस सिद्धान्त के प्राचीनतम प्रवर्तक के रूप में परम्परानुसार श्री विष्णुस्वामी को स्वीकार किया जाता है । विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय "रुद्र सम्प्रदाय" के नाम से भी ज्ञात है । क्योंकि स्वयं भगवान शिव ही इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं । भगवान शिव ने ही बाल्यखिल्य ऋषियों को उपदेश दिया था तथा परम्परानुसार यह ज्ञान विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ । विष्णुस्वामी ने ही इस मत को लोगों में प्रचारित किया अतः इस सम्प्रदाय का नाम "विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय" प्रचलित हो गया । वल्लभ दिग्विजय के अनुसार श्री वल्लभाचार्य ने विद्यानगर के शास्त्रार्थ के उपरान्त विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुवर्तियों के आग्रह पर उनकी विछिन्न परम्परा का आचार्य बनना स्वीकार किया था ।

विष्णुस्वामी के देश तथा काल की यथार्थ विवेचना अभी तक नहीं हो पाई है । वैष्णव सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी द्रविड़ देश के किसी क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मन्त्री के पुत्र थे । इन्होंने वेद, उपनिषद, वेदांग आदि ग्रन्थों में प्रवीणता प्राप्त की थी । विष्णुस्वामी ने सारे देश में भ्रमण कर भक्ति मार्ग का प्रचार किया । इनके मत के सात सौ आचार्यों की बात सुनी जाती है जिनमें आचार्य बिल्वमंगल एक महनीय उपदेशक थे । विष्णुस्वामी का समय युधिष्ठिर से ढाई हजार वर्ष पीछे §अर्थात् विक्रम पूर्व पंचक शती§ में वैष्णव लोग मानते हैं तथा बिल्वमंगल का अष्टम शती में । बिल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया

था । आचार्य वल्लभ ने विष्णुस्वामी के सिद्धान्त को मौलिक सूझ के साथ-साथ बिल्कुल नये रूप में प्रस्तुत किया ।

श्री वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या श्री गिरिधर जी महाराज ने शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड में की है । इन्होंने सबसे पहले "अद्वैत" शब्द की व्याख्या की है:-

" द्विधा ज्ञानं तु यद्यत् स्यान्नामरूपात्मना मुहु ।
द्वीत तदेव द्वैतं स्यादद्वैतं तु ततोऽन्यथा ।।"
ईश जीवात्मना वापि कार्यकारणतोऽथवा ।"

अर्थात् नाम रूप से ईश्वर और जीव से अथवा कार्य और कारण से जो द्विधा ज्ञान है उसे "द्वीत" कहते हैं और द्वित को ही "द्वैत" कहते हैं । इससे जो विपरीत है उसे "अद्वैत" कहते हैं । अर्थात् नाम और रूप एक है ईश और जीव एक है तथा कार्य और कारण एक है । वल्लभ ने आचार्य शंकर के अद्वैत से भिन्नता दिखाने के लिए अद्वैत के साथ शुद्ध विशेषण दिया है । शंकर ने मायाशबलित ब्रह्म को जगत का कारण माना है किन्तु वल्लभ ने माया से अलिप्त माया सम्बन्ध से विरहित अतएव नितान्त शुद्ध ब्रह्म को जगत का कारण माना है:-

" माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधः ।
कार्य कारणं रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।।"[1]

इस सिद्धान्त के दो अन्य नाम भी प्रसिद्ध हैं:-

§1§ ब्रह्मवाद §2§ अविकृत परिणामवाद ।

ब्रह्मवाद-

इस दर्शन में "ब्रह्म" ही सब कुछ माना गया है । "सर्वं ब्रह्म इति वाद: ब्रह्मवाद: तेन" । अर्थात् जीव भी ब्रह्म रूप है तथा जगत भी ब्रह्म रूप है । श्रुतियों ने भी इसका समर्थन किया है जैसे:- सर्वम् खलु इदं ब्रह्म । इस

श्रुति वाक्य में सम्पूर्ण चराचर जगत को ब्रह्ममय बतलाया गया है । इस प्रकार सब कुछ ब्रह्मरूप समझना ही ब्रह्मवाद है जबकि अन्य जो कहा जाता है वह मोहवश कल्पित है अर्थात् असत्य है:-

" आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।

इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथा मतिः ।

अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ।"[1]

अविकृत परिणामवाद-

शंकराचार्य ब्रह्म का परिणाम स्वीकार नहीं करते । इसीलिए वे प्रपञ्च को मायिक मान लेते हैं । जबकि वल्लभ ब्रह्म के परिणाम को स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार ब्रह्म का ये परिणाम रामानुज द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के परिणाम से भिन्न है । क्योंकि रामानुज ब्रह्म के विकृत परिणाम की सत्ता को सिद्ध करते है जैसे दूध से दही बन जाना । इसमें दूध का परिणाम दही सविकारी होता है । जबकि वल्लभ ने अविकृत परिणाम को स्वीकार किया है जैसे-सुवर्ण से कटक कुण्डल आदि का परिणाम । उसी प्रकार जगत इसी के रूप में परिणामित होने पर ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और लयावस्था में जगत अपने कारण रूप ब्रह्म में पुनः उसी प्रकार तिरोभूत हो सकता है जैसे स्वर्ण के विभिन्न आभूषण पुनः स्वर्ण में परिणत हो सकते है । आचार्य वल्लभ जगत की उत्तपत्ति और विनाश नहीं मानते प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव मानते है ।

प्रस्थान चतुष्टय-

सामान्यतः वेदान्त दर्शन में "प्रस्थानत्रयी" के नाम से श्रुति, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता इन तीन ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है । लेकिन

आचार्य वल्लभ ने उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त "श्रीमद्भागवतपुराण" को भी प्रमाण स्वीकार करते हुये "प्रस्थान चतुष्टय" के सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है ।[1] प्रस्थान चतुष्टय के इन चारों ग्रन्थों के क्रम को भी वल्लभ ने महत्त्वपूर्ण बतलाया है । अपने ग्रन्थ तत्त्वदीपनिबन्ध में आचार्य लिखते हैं कि "उत्तरम् पूर्व सन्देह वारकं परिकीर्तितम्"[2] अर्थात् प्रारम्भिक ग्रन्थों की शंकाओं का समाधान क्रमशः बाद के ग्रन्थों से होता है । वेदों में वर्णित शंकाओं का समाधान ब्रह्मसूत्र से, ब्रह्मसूत्र की शंकाओं का समाधान गीता से और गीता की शंकाओं का समाधान भागवत से होता है इस प्रकार भागवत सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है ।

ब्रह्म का स्वरूप-

वेदान्त के सभी आचार्यों की तरह वल्लभ ने भी ब्रह्म को ही परम तत्त्व स्वीकार किया है । यह परम सत्य ब्रह्म ही अद्वैत सत्ता है । ब्रह्म माया की उपाधि से रहित होने के कारण शुद्ध है । जड़ जगत तथा चेतन जीव भी इसी के अंश है । अतः ये ब्रह्म से भिन्न नहीं है । सब कुछ ब्रह्ममय ही है:-
" अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा ।[3] अर्थात् अखण्डाद्वैतद्वैत की अनुभूति होने पर तो सब कुछ ब्रह्म ही प्रतीत होता है । अर्थात् ब्रह्मत्वेन ही गृहीत होता है अन्यथा नहीं । वल्लभ ने इसी अद्वैत पर ब्रह्म को श्रीकृष्ण कहा है ।

परब्रह्म की यह विशिष्टता है कि उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी साथ-साथ रहते हैं । वे सगुण तथा निर्गुण दोनों ही है । यहाँ निर्गुण का तात्पर्य केवल इतना है कि वह प्रकृति के साधारण गुण अर्थात् सत्त्व, रजस, तमस से रहित

1- वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्
(तत्त्वार्थदीप निबन्ध-शास्त्रार्थप्रकरण सूत्र-7)

2- तत्त्वार्थदीप निबन्ध- शास्त्रार्थ प्रकरण सूत्र-8

है, अन्यथा आनन्दादि दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण ही है। ब्रह्म के इस प्रकार के साकार रूप का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है, जैसे- पुरुष सूक्त में परम-पुरुष के विषय में कहा गया है:- " सहस्त्रशीर्षा: पुरुष: सहस्त्राक्ष: सहस्त्रपात् ।" आचार्य वल्लभ के अनुसार भी ब्रह्म के कर, पाद, मुख आदि अवयव सर्वत्र हैं और आनन्द से बने हुए हैं:- आनंदमात्रकरपाद: मुखोदरादि: सर्वत्र च त्रिविधभेद विवर्जितात्मा ।[1] इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप आनन्द धन है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र और पुराणादि में जिसे भगवान ईश्वर और परमात्मा कहा गया है वह यही परब्रह्म है। वल्लभ शंकर के समान ब्रह्म और ईश्वर में अन्तर नहीं करते।

श्रुतियों में वर्णित ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का वर्णन वल्लभ ने भी अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया है। किन्तु उन्होंने ब्रह्म के आनन्द स्वरूप पर अधिक बल दिया है। ब्रह्म जब अपनी इच्छा से लीला के लिये जड़ चेतनमय जगत की सृष्टि करना चाहता है तो जड़-जगत के रूप में उसका सतस्वरूप अभिव्यक्त होता है। इसमें चित् और आनन्द का तिरोधान रहता है। और जीव के रूप में उसका सत् एवं चित् स्वरूप अभिव्यक्त होता है। यहाँ आनन्द स्वरूप तिरोहित रहता है। तथा अन्तर्यामी रूप में सत्, चित् और आनन्द तीनों ही गुणों का प्राकट्य रहता है। वल्लभ ने जीव एवं जगत के रूप में परिणत होने पर भी ब्रह्म को अविकारी ही माना है। शंकराचार्य की भाँति वल्लभ भी ब्रह्म को सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित मानते हैं। जैसा कि तत्वार्थदीप निबन्ध में आचार्य ने कहा है कि "सजातीय-विजातीय स्वगतद्वैतवर्जितम् । सजातीय इति-सजातीया जीवा: विजातीया जड़ा: स्वगता अन्तर्यामिण: ।

1- तत्वार्थदीप निबन्ध- शास्त्रार्थ प्रकरण सूत्र 44

त्रिष्वपि भगवान् अनुस्यूतः, त्रिरूपश्च भवति इति तैर्निरूपितं द्वैतं भेदः तद्वर्जितम् ।"[1] वल्लभ ने ब्रह्म को जो भेदों से परे कहा है उसका तात्पर्य ये है कि जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सब ब्रह्ममय है, ब्रह्म से अपृथक है और उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म । लेकिन शंकर के अनुसार तो ब्रह्म के अतिरिक्त हम जो कुछ भी अनुभव करते है वह मिथ्या है, जगत भी मिथ्या है तथा जीव भी । वल्लभाचार्य ने परमतत्व परब्रह्म के तीन रूप स्वीकार किये हैं ।1। पुरुषोत्तम ब्रह्म ।2। अक्षर ब्रह्म ।3। अन्तर्यामी रूप ।

पुरुषोत्तम ब्रह्म-

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं । ये पूर्ण आनन्द स्वरूप हैं । इसीलिए इन्हें अगणितानन्द भी कहा जाता है । पुरुषोत्तम ब्रह्म आधिदैविक स्वरूप है । वल्लभ ने इनकी पुरुषोत्तम संज्ञा गीता के आधार पर दी है क्योंकि गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।[1]

ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपनी समस्त शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ व्यापी वैकुण्ठ में नित्य लीला किया करते हैं । क्रीड़ा के निमित्त भगवान का समग्र परिवार तथा लीलापरिकर इस भूतल पर अवतीर्ण होता है । तब व्यापी वैकुण्ठ ही गोकुल के रूप में विराजता है । इस परब्रह्म श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए भक्ति ही एकमात्र साधन है ।

अक्षर ब्रह्म-

आध्यात्मिक स्वरूप है । यह विशुद्ध ज्ञान से ही लभ्य है । अन्तर्यामी

1- यस्मात्क्षरमतीतो हमक्षरादपि चोतमः ।
   अतो स्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।" गीता 15-18

रूप में वह सबका नियमन करता है। वल्लभ के अनुसार परब्रह्म अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न रूपों में प्रगट होता है। कृष्णावतार में परब्रह्म ने अपने चतुर्व्यूहात्मक तथा रसात्मक दोनों रूपों में अवतार लिया था। देवकीनन्दन वासुदेव धर्म रक्षक रूप हैं। तथा यशोदा और नन्दन रस रूप है।[2]

जीव-

जब भगवान को रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनन्दादि गुणों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण करता है। शंकर के मायावाद का खंडन करते हुये वल्लभ कहते है कि जीव की इस सृष्टि में ईश्वर की इच्छा ही केवल प्रधान कारण है माया का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर को षडैश्वर्ययुक्त माना गया है। भगवान की इच्छा से प्रेरित जीव के ऐश्वर्य आदि छः गुण तिरोहित हो जाते है। ﴾1﴿ ऐश्वर्य की तिरोधान से जीव पराधीनता एवं दीनता से युक्त होता है। ﴾2﴿ वीर्य के तिरोहित होने पर सर्व दुःखों को सहना होता है। ﴾3﴿ यश के तिरोभाव से सर्वहीनता ﴾4﴿ श्री के तिरोधान से जीव जन्मादि समस्त आपत्तियों का भाजन बनता है तथा ﴾5﴿ ज्ञान के तिरोभाव से अनात्म वस्तु देहादि आत्मबुद्धि का पात्र बनता है। ﴾6﴿ वैराग्य के तिरोभाव से विषयासक्ति होती है। आनन्द अंश का तिरोभाव तो प्रथमतः ही सम्पन्न होता है जब ईश जीवभाव को प्राप्त करता है।[1]

1- ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म तिरोभाव। ऐश्वर्य तिरोभावदीनत्वं पराधीनत्वम्। वीर्य तिरोभावत् सव दुःखसहनं। यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं श्री तिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद विषयत्वं। ज्ञान तिरोभावाद्-देहादिष्वहं बुद्धिः सर्वविपरीत ज्ञानं चापस्मरत्तहितस्यैव। वैराग्यतिरोभावाद विषयासक्तिः। आनंदांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः।

-अणुभाष्य-3/2/5

2- दीनदयाल गुप्त- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० - 404।

ब्रह्म से जीव का आविर्भाव उसी प्रकार होता है जैसे अग्नि से स्फुलिंग् के का । इसे जीव ब्रह्म सम्बन्ध की चर्चा होने पर अधिक विस्तारपूर्वक समझाया जायेगा । आविर्भूत जीव नित्य होता है । जीव अणु रूप है । लेकिन जीव का यह अणुरूप शाश्वत नहीं है केवल आनंदांश के तिरोहित रहने तक ही जीव अणु है आनन्दांश के आविर्भूत होने पर जीव व्यापक स्वरूप हो जाता है । मुक्तावस्था में उसे आनन्द की पूर्ण अनुभूति होती है । शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है:-

॥1॥ शुद्ध जीव-

शुद्ध जीव निर्गमन से पूर्व की अवस्था है । वस्तुत: यह ब्रह्म की अवस्था है । यहाँ आनन्दात्मक ऐश्वर्यादि गुण बने रहते है । शुद्ध जीवों को संसारी जीवों की तरह दु:ख नहीं भोगना पड़ता ।

॥2॥ संसारी जीव-

ये जीव अविद्या के जाल में फँसे होने के कारण जन्म-मरण का अनुभव करते हैं क्योंकि वे स्थूल और सूक्ष्म शरीर धारण करते है । यह जीव भी दो प्रकार के हैं दैव तथा आसुर ।

॥3॥ मुक्त जीव-

संसारी जीव पर जब भगवान की कृपा होती है तब वह उनकी शरण में जाता है और भगवद्कृपा से उसे पुन: आनन्दादि की प्राप्ति होती है । जीव ब्रह्म का समत्व प्राप्त कर लेता है किन्तु ब्रह्म में अपने आपको विलीन नही करता । संसारी जीवों के जो दो भेद कहे गये उसको पुन: कई विभागों

में बाँटा जाता है उसकी एक तालिका प्रस्तुत की जा सकती है:-

जीव-सृष्टि

- दैवी जीव सृष्टि
  - दैवी पुष्टि जीव
    - शुद्ध-पुष्ट-जीव
    - पुष्टि-पुष्ट जीव
    - मर्यादा पुष्ट जीव
    - प्रवाही पुष्ट जीव
  - दैवी मर्यादा जीव
- आसुरी जीव सृष्टि
  - प्रवाही
    - दुर्ज्ञ
    - अज्ञ
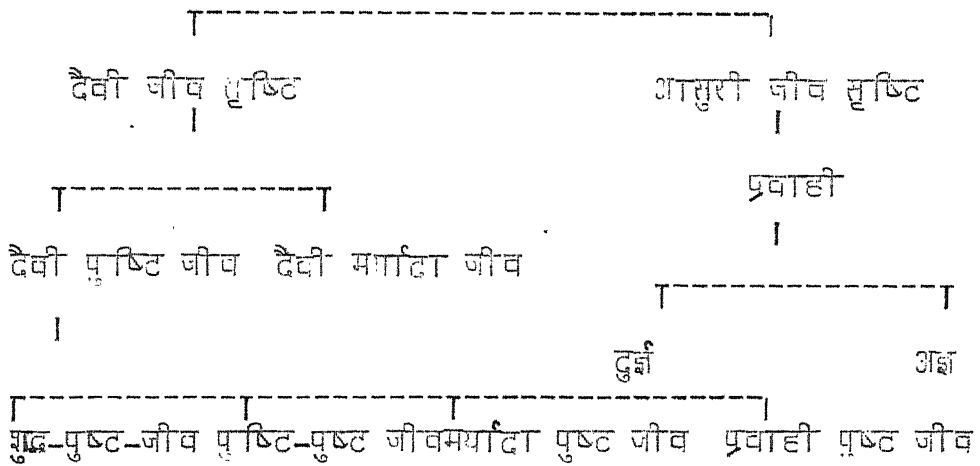
पुष्टि जीव को भगवान अपनी स्वरूप सेवा के लिए उत्पन्न करते हैं जब जब भगवान लोक में अवतार लेते हैं तब-तब वे अपने साथ इन पुष्ट भक्तों को भी लाते हैं । पुष्ट जीवों को भगवान के लोक तथा उनकी लीला का आनन्द-लाभ मोक्षावस्था में मिलता है । पुष्टि सृष्टि के चार प्रकार है जबकि मर्यादा सृष्टि के जीवों को कर्म और ज्ञान के द्वारा स्वर्गादि लोक अथवा अक्षर सायुज्य-मुक्ति मिलती है । आसुरी जीव प्रवाह मार्गी होते हैं । अर्थात् वे सांसारिक लाभ के लिए ही प्रत्येक कर्म करते रहते हैं । इनके भी दो भेद हैं । चूँकि आसुरी जीव भगवान के अवतारों के प्रति द्वेषभाव रखते हैं । अतः भगवान इनका संहार करते हैं । इस संहार में जिन आसुरी जीवों का उद्धार हो पाता है वे अज्ञ जीव कहलाते हैं । इसके विपरीत दुर्ज्ञ जीव हैं । दुर्ज्ञ जीव सदा जन्म-मरण के

जीव ब्रह्म सम्बन्ध-

इस सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंश और अंशी का है । अंश और अंशी रूप इस सम्बन्ध को समझाने के लिए अग्नि और स्फुलिङ्ग का दृष्टांत दिया गया है:-

" यथा सुदिप्तात् पावकाद् विस्फलिङ्गा
सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपा: ।
तथाक्षराद् विविधा सौम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति: ।" [मुंडकोपनिषद् 2/1/1]

अणुभाष्य में आचार्य वल्लभ लिखते हैं कि:- "विस्फुलिङ्गा इवाग्ने: हि जड़ जीवा: विनिर्गता" अर्थात जड़, जीव दोनों ही ब्रह्म से अग्नि से विस्फुलिंङ्ग की भाँति निकलते हैं । किन्तु एक ही ब्रह्म से उद्‌भूत होने पर भी जीव और जड़ पदार्थ में अन्तर इसलिए है क्योंकि जड़ ब्रह्म के सदंश से निकलते है तथा जीव चिदंश से । इसीलिए जड़ में केवल सत्ता होती है चेतना नहीं जबकि जीव में दोनों गुण होते हैं । ब्रह्म तथा जीव में अग्नि स्फुलिङ्ग वह स्वरूपगत अभेद है किन्तु अंशी ब्रह्म का अंशमात्र होने के कारण जीव की शक्ति सत्ता के अनुसार सीमित है जबकि ब्रह्म की शक्तियाँ अनन्त हैं तथा जिस प्रकार छोटी बड़ी चिन्गारियों में अग्नि का न्यूनाधिक अंश विद्यमान होता है वही स्थिति जीवों की भी है । इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश होने के कारण उससे अभिन्न अवश्य है किन्तु जीव स्वयम् ईश्वर नहीं है ।

जगत-

जगत की रचना और स्थिति ब्रह्म की सत् इच्छा पर आश्रित है ।[1]

1- ब्रह्मत्वेनैव जगत: सत्यत्वम्-अणुभाष्य 1/4/23

ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान कारण है । जब यह जगत ब्रह्मरूप है तो यह अवश्य ही सत्य ब्रह्म के समान सत्य ही होगा । अन्य वैष्णव आचार्यों की भाँति वल्लभ का भी यही मत है कि ईश्वर इस सृष्टि की रचना केवल लीला के लिए करता है । वल्लभ के अनुसार ब्रह्म से जगत का आविर्भाव एवं ब्रह्म में ही तिरोभाव होता है । यह ब्रह्म की शक्ति है जिससे वह एक से अनेक होता है । इस प्रकार आविर्भाव नवीन निर्माण नहीं तथा तिरोभाव नाश नहीं । इसीलिए यहाँ जगत सत्य कहा गया है । ब्रह्म स्वयं जगत के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है लेकिन इसके बाद भी वह अविकृत रहता है । जैसे सुवर्ण कटक कुण्डलादि रूप में परिणत होने पर भी अविकृत रहता है । ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय होने के कारण एक साथ परिणामी तथा अविकारी दोनों होता है ।

इस दर्शन में जगत के विकास की प्रक्रिया में 28 तत्त्व उद्भूत होते हैं:- सत्त्व, रजस, तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंच-तन्मात्राएँ, पंच महाभूत, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच-ज्ञानेन्द्रिय और मनस् । ये सांख्य दर्शन के विकासवादी सिद्धान्त में प्रस्तुत 25 तत्त्वों के समान लगते हैं किन्तु इनमें कुछ अन्तर है । सत्त्व, रजस, तमस्, सांख्य दर्शन में प्रकृति के गुण माने गये हैं लेकिन वल्लभ मत में ये प्रकृति से पृथक हैं । ईश्वर ही अपने सत् अंश से सत्त्व, चिदांश से रजस् तथा आनन्दांश से तमस् को उत्पन्न करता है तथा वल्लभ ने सांख्य मत के समान मनस् को एक इन्द्रिय नहीं माना है ।

इन 28 तत्त्वों के अतिरिक्त इस सिद्धान्त में काल, कर्म, स्वभाव ये और तीन तत्त्व माने गये हैं जो यद्यपि जगत निर्माण में सहायक होते हैं किन्तु ये ईश्वर के अभिन्न स्वरूप हैं ।

काल दो प्रकार है नित्य एवं व्यावहारिक । नित्य काल में सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों हैं किन्तु व्यावहारिक काल में केवल सत्त्वांश प्रकट होता है । काल का कार्य है प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करना । कर्म एवं स्वभाव काल के ही भाग हैं ।

कर्म मनुष्य के सभी सत् एवं असत् कर्म इसी के आंशिक रूप हैं । यही व्यक्तियों के फलों को भी निश्चित करता है । इसके लिए किसी अदृष्ट को मानने की आवश्यकता नहीं है ।

स्वभाव भी एक सार्वभौम तत्त्व है । इसे परिणाम का कारण कहा जाता है । ईश्वर के विशेष संकल्प से इसका विकास होता है ।

संसार-

वल्लभाचार्य ने संसार को मिथ्या माना है । आचार्य के अनुसार भगवान की दो शक्तियाँ है माया और अविद्या । इनमें से भगवान की माया शक्ति का कार्य है जगत तथा अविद्या शक्ति का कार्य संसार है । जगत ब्रह्मोपादानक एवं मायाकरणक है जबकि संसार जिम्मादानक एवं अविद्याकरणक है । वल्लभ कहते हैं कि जगत की वस्तुओं के प्रति मैं तथा मेरे की जो भावना उत्पन्न होती है उसी से संसार का निर्माण होता है । इस प्रकार संसार अहंता तथा ममात्मक है और अविद्या की कृति है । तत्त्वज्ञान होने पर यह निश्चय हो जाता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है तब अविद्याजन्य संसार की निवृत्ति हो जाती है । पुराणों में कहीं-कहीं जगत को भी मिथ्या कहने का तात्पर्य केवल वैराग्य उत्पन्न करने के लिए होता है । इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर भी जगत की निवृत्ति नहीं होती:- " संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित् ।" [तत्त्वार्थदीप निबन्ध-44]

जीव के बंधन का कारण-

विद्या और अविद्या ये ब्रह्म की शक्तियाँ है जो जीव को अपना विषय

जाती है। जीव के बन्धन एवं स्वरूप लाभ में क्रमशः अविद्या और विद्या कारण स्वरूपा हैं। अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास और स्वरूप विस्मरण इन पाँच पर्वों वाली अविद्या के कारण ही जीव इस ब्रह्मात्मक जगत को ब्रह्म से भिन्न और स्वतन्त्र समझने लगता है। उसकी दृष्टि सर्वत्र द्वैत ही देखने लगती है। अविद्या से मोहित होकर ही जीव जन्म-मरण के संसरण चक्र में घूमता रहता है। " आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया, देहलाभो विद्यया" [त०दी०वि० 1/35 प्रकाश] । जीव का यह बन्धन है। तथा उससे मोक्ष ब्रह्म की इच्छा से ही होता है। "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" [ब्र०सू० 3/2/5] इस सूत्र के भाष्य में वल्लभ ने प्रतिपादित किया है कि भगवदिच्छा से ही जीव का आनन्दांश तथा ऐश्वर्यादि गुण तिरोहित होते है जिसके फलस्वरूप उसके बन्ध और मोक्ष होते हैं। यह सृष्टि ईश्वर की क्रीडास्थली है और यह इच्छानुसार क्रीडा करता है। अतः सृष्टि के प्रत्येक व्यापार में अन्ततः उसकी इच्छा ही नियामिका है।

मोक्ष का स्वरूप-

वल्लभ दर्शन में मोक्ष का स्वरूप नित्यानन्द की प्राप्ति माना गया है जिसका एकमात्र साधन है भक्ति और इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है ईश्वर की कृपा। अन्य वैष्णव आचार्यों की तरह वल्लभ भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य इन चारों प्रकार की मुक्ति की अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त एक और "सायुज्य-अनुरूपा" मुक्ति को वे श्रेष्ठतम कहते हैं जिसमें मुक्त जीव पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्द लाभ प्राप्त करता है। इसे स्वरूपानंद भी कहा जाता है। आचार्य वल्लभ ने क्रममुक्ति एवं सद्योमुक्ति का उल्लेख किया है। क्रममुक्ति ज्ञानमार्गियों को मिलती है। अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञान के साधन क्रम में अनेक अग्नि, वायु, वरूण, इन्द्रादि लोकों में होकर ज्ञानी ज्योतिर्मय

ब्रह्म को प्राप्त करता है । सद्योमुक्ति में भगवान भक्त के वियोग दु:ख को दूर करने के लिए उसे जीवन-मुक्त की दशा में प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए नहीं रहने देते वरन् उसे आनन्द विग्रह देकर अपनी नित्य रसात्मक लीला में ले लेते हैं । पुष्टि भक्त इसी सद्योमुक्ति को प्राप्त करता है । वल्लभ मत में भक्ति मुक्ति से भी अधिक श्रेष्ठ मानी गई है । भक्त सदैव भक्ति की ही इच्छा रखता है क्योंकि उसे इसी से आनन्दानुभव होता है । इसीलिए वल्लभ ने मोक्षावस्था में ब्रह्म और जीव के अभेद की स्थिति स्वीकार नहीं की है । जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो और ब्रह्म से उसका अभेद भी बना रहे यही श्रेष्ठ अवस्था है ।

मोक्ष के साधन के रूप में ज्ञान एवं कर्म की स्थिति-

आचार्य वल्लभ ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति की ही सबसे अधिक महत्ता स्वीकार की है लेकिन भक्ति के मर्यादा मार्ग में तो आश्रमधर्मों तथा श्रौत और स्मार्त कर्मों का पालन अपरिहार्य है । मर्यादा मार्ग में भक्ति भी आश्रमधर्मादि तथा "सर्वं हरि:" इस ज्ञान से युक्त होकर ही "ब्रह्मभाव" सम्पादित करती है आश्रमधर्मादि से विमुक्त होकर नहीं । मर्यादा मार्ग में ज्ञान कर्म संवलिता भक्ति ही मोक्ष साधिका है । पुष्टिमार्गीय अवस्था में आश्रमधर्मादि और श्रौतस्मार्त कर्मों का परित्याग कर सकते है किन्तु तब जब उन्हें स्वतन्त्र फलरूपा भक्ति की प्राप्ति हो जाय । जब माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहरूपा भक्ति भगवत्परिचर्या से युक्त होकर स्वत: पुरुषार्थरूपा सेवा का रूप ग्रहण कर लेती है तो वह स्वतन्त्र कहलाती है यह स्वयं फलरूपा है । जब इस फलरूपा भक्ति का फलरूप से अनुभव होने लगे तब आश्रमाचारादि के "फलानुभवप्रतिबन्धक" होने के कारण उनका परित्याग कर देना चाहिए । भगवद्धर्म से अविरुद्ध ही आश्रम धर्मों का पालन करना चाहिए । पुष्टिमार्ग तो सर्व साधन निरपेक्ष मार्ग है अत: इनके लिए तो

वर्णाश्रम धर्म आदि अन्तराय रूप ही है ।[1]

यही स्थिति ज्ञान के अन्तरंग साधन शमदमादि की भी है । पुष्टिमार्ग में इनका सर्वथा अप्रयोजकत्व है । अत्यन्त कष्टसाध्य शमादि के द्वारा जो चित्त शुद्धि होती है वह श्रीकृष्ण के प्रेम से सहज ही हो जाती है क्योंकि कृष्ण प्रेम से बढ़कर चित्त संस्कारक और कुछ भी नहीं है ।

वल्लभ ने मर्यादाभक्ति मार्ग के लिए ज्ञान, कर्म, तपादि को भी भगवत्प्राप्ति के साधनों के रूप में स्वीकार किया है किन्तु भक्ति समन्वित करके ही । " गतेरर्थवत्त्वमुभयथा न्यथा हि विरोध: [ब्र0सू0 3/3/29] का भाष्य करते हुए वल्लभ ने ज्ञान की स्थिति पर विचार किया है । मर्यादा मार्ग में भक्ति ज्ञान कर्म सापेक्ष होकर ही फल देती है अत: मर्यादामार्गीय को ब्रह्मानुभव या ब्रह्मज्ञान की भी आवश्यकता होती है । यह ज्ञान जीवब्रह्मैकत्वरूप न होकर जीव-ब्रह्म तादात्म्यरूप होता है । इस प्रकार सर्वहरि: या सर्वकृष्णमयं जगत् इस रूप का जो ज्ञान है वही अपेक्षित है । मर्यादामार्ग में भगवद्विषयक जो श्रवणादि हैं उनसे पहिले यह ज्ञान उत्पन्न होता है तत्पश्चात प्रेमाभक्ति का अंकुरण संभव हो पाता है । ज्ञान के द्वारा जो कैवल्य या संघात से पृथग्भाव प्राप्त होता है उसमें भी भक्ति का कारणत्व होता है । अविद्या विनिवृत्ति

1- " अपि तस्मिन् पुरुषोत्तमे धर्मिण्येव दृष्टिस्तात्पर्यं यस्य पुंस:
तस्याश्रम धर्मा अन्तरा च फलसिद्धौ व्यवधानरूपाश्चेति श्रुति:
दर्शयति इति पूर्वेण संबंध: ।" - अणुभाष्य-3/4/35

और ज्ञानसम्पत्ति में जो पंचपर्वा विधा सहायक होती है उसके पर्वों में वैराग्य, सांख्य, योग, तप के साथ श्रीकृष्ण की भक्ति भी सम्मिलित है ।

कर्म की स्थिति भी ज्ञान जैसी ही है । कर्म का भक्ति साधनत्व बस इतना ही है कि वह स्वरूपयोग्यता सम्पादक है और इस स्वरूप योग्यता की आवश्यकता भी मर्यादिक को ही होती है पौष्टिक को नहीं:- "कर्मणां हि भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पादकत्वेन ।---कर्मज्ञानाभ्यामुत्पन्नत्वाद्भगवतः स्वरूपयोग्यतापेक्षा पि मार्यादिकस्य न तु पौष्टिकस्य । ‡अणुभाष्य-3/4/20‡।

ज्ञान और भक्ति का क्रमशः उत्तम और अत्युत्तम फल होने से उसके साधन रूप से ही कर्म करना चाहिए । कर्म मार्गान्तर से सम्बद्ध होकर ही उत्तम फल दे सकता है । स्वयं उसका फल तो श्रुति असकृत आवृत्ति और पुनर्जन्म ही बताती है जो फल की दृष्टि से हेय है । निवृत्तिमार्गीय का भी वह ज्ञानोपकारमात्र करता है, जन्मनिवर्तकत्व नहीं है ।[1] कर्म का ज्ञानोपकारकत्व तभी है जब कर्म भगवदर्पित हो और यह समर्पण ही भक्ति अथवा भक्ति का साध्य है । इस प्रकार ज्ञान और कर्म, अन्ततः भक्ति के अंग ही ठहरते हैं । वल्लभ के अनुसार भक्ति और ज्ञान कर्म दोनों की ही स्वरूपोपकारिणी है और इसके अभाव में ज्ञान-कर्म का स्वरूपत्व और जनकत्व निष्पन्न नहीं होता ।[2]

भक्ति-

आचार्य वल्लभ भक्तिमार्गीय आचार्य हैं और उनके अनुसार केवल भक्ति के द्वारा ही मानव का कल्याण शीघ्रता और सरलतापूर्वक हो सकता है । प्रत्येक जीव में आनन्द की वांछा होती है और आनन्द की यह वांछा ईश्वर प्रेरित है क्योंकि प्रत्येक जीव में आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपने आनन्दांशप्रधान

1- अणुभाष्य- 4/1/2

2- श्रीमद्भागवद- 1/5/12-सुबोधिनी

अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर उसे अखण्ड आनन्द के उत्स की ओर प्रेरित कर रहा है । जीव में आनन्द की यह लालसा स्वाभाविक है क्योंकि जीव ब्रह्म का अंश है और अंश में अंशी का स्वभाव अनुस्यूत होता है । अतएव स्वरूपतः तो जीव भी आनन्दमय ही है किन्तु ईश्वर की अपेक्षा वह अणु या अल्प आनन्द वाला है ।

जीव संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है किन्तु उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि वस्तुतः भौतिक जगत में सुख और दुःख परस्पर सापेक्ष स्थितियाँ हैं । भौतिक सुख अनित्य और अस्थिर है तथा चेतना के अत्यन्त स्थूल स्तरों पर इसका अनुभव होता है इसके विपरीत ईश्वर का आनन्द एक ऐसा अनुभव है जो स्वयं में पूर्ण और निरपेक्ष है । यह लोकोत्तर आनन्द ही मानव की सर्वोच्च स्पृहा का विषय है । यही ज्ञान का अभीष्ट है यही भक्ति का भी अभीष्ट है तथा योग एवं तप का भी अभीष्ट यही परमानन्द की प्राप्ति है । इस आनन्द की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को आत्म साक्षात्कार की आवश्यकता होती है । वस्तुतः यह परमानन्द उसका अपना ही स्वरूप है क्योंकि जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है । ब्रह्म आनन्द घन स्वरूप है अतएव जीव का भी स्वरूप आनन्दमय ही है । लेकिन अविद्या के आवरण से मलिन अपने स्वरूप को जीव ईश्वर की कृपा के बिना पहचान नहीं पाता । ईश्वर की इस कृपा को प्राप्त करने के लिए भक्ति ही सबसे सहज एवं स्वाभाविक मार्ग है । भक्ति सदैव सगुण एवं साकार के प्रति होती है निर्गुण निराकार के प्रति नहीं । सृष्टि के जिस मूल तत्व को उपनिषदों में निराकार निष्फल, आनन्दस्वरूप ब्रह्म कहा गया है वही आनन्द श्रीकृष्ण के विग्रह में घनीभूत होकर प्रकट हुआ है । जीव उनका ही अंश है और श्रीकृष्ण का आनन्द ही जीव में अभिव्यक्त होकर "आत्मानन्द"

या "जीव आनन्द" कहलाता है । अविद्या से मलिन होने के कारण इस परमानन्द की अविकल-अनुभूति जीव को नहीं हो पाती है । जब भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण की कृपा से जीव को उनका सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तभी उसे अखण्ड आनन्द की अनुभूति होती है ।

कृष्णभक्ति में सारे मानवीय मनोरोगों के साथ श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है भक्त को यह विश्वास होता है कि वह जिस किसी रूप में जिस सम्बन्ध से भगवान का आह्वान करेगा भगवान उसी रूप में उसी सम्बन्ध से उसे प्रत्युत्तर देंगे । कृष्णभक्ति सभी मानवीय संवेगों को श्रीकृष्ण में नियोजित कर दिया गया है । कृष्णभक्ति में भले ही भगवत् प्रेम मानवीय संबंधो के माध्यम से व्यंजित हुआ हो किन्तु उसकी अनुभूति सर्वोच्च अध्यात्मिक धरातल की वस्तु है इसमें सन्देह नहीं । ईश्वर से जुड़कर ये सभी मानवीय सम्बन्ध बन्धन का कारण नहीं अपितु मुक्ति का द्वार बन जाते हैं ।

भक्ति की साधना प्रक्रिया एक उपचार की भाँति है । यह मानव मन की विकृतियों को धीरे-धीरे तथा सहानुभूतिपूर्वक दूर करती है । भक्ति सांसारिक कामनाओं और वांछाओं के बलपूर्वक दमन को अस्वीकार करती है । दमन स्वयं में एक आरोपित मनःस्थिति है । मानव मन की प्रत्येक विकृति किसी न किसी अभाव या कुण्ठा से ही जन्म लेती है और जब तक वह अभाव या कुण्ठा दूर नहीं होती विकृति भी यथावत् बनी रहती है । भक्ति में इस कुण्ठा का उदात्तीकरण होता है । विशेषरूप से कृष्णभक्ति में ने तो मानव की हीन से हीन वृत्तियों को इतना ऊँचा उठा दिया है कि वे पावन और श्रद्धास्पद हो गईं । संक्षेप में यही भक्ति का आध्यात्म एवं मनोविज्ञान है ।

भक्ति का शाब्दिक अर्थ-

भक्ति शब्द भज् धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है । वल्लभ ने तत्वदीप निबन्ध में अपनी व्याख्या "प्रकाश" में लिखा

है कि भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ प्रेम और धात्वार्थ सेवा है । इस प्रकार भगवान की प्रेमपूर्वक की गई सेवा ही भक्ति कहलाती है । विट्ठलेश ने भी भक्तिहंस में स्पष्टरूप से लिखा है:-

" भक्तिपदस्य शक्ति: स्नेह एव" । पांचरात्र में भी "स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त:" ऐसा ही कहा गया है । भक्ति की इस तात्त्विक विवेचना से भक्ति का उत्कटस्नेहस्वरूपत्व सिद्ध होता है । परानुरक्तिरीश्वरे वल्लभ की विशिष्टता है। सेवा पद से व्यंग्य प्रेमरूप मानसी सेवा ही भक्ति शब्द का योगरूढ़ अर्थ है । प्रेम के प्रत्ययार्थ और पूर्णत्वप्रयोजक होने के कारण प्रधान होने से भक्तिपदवाच्य भजन क्रिया का प्रेमरूपा होना सिद्ध है । प्रेम भावरूप है और भाव मन का धर्म है इस प्रकार भक्ति का मानस होना स्पष्ट है । वल्लभ ने अपने प्रकरण ग्रन्थ " सिद्धान्तमुक्तावली" में प्रथम श्लोक में ही कहा है:-

" नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।"

इसके पश्चात् भक्ति का लक्षण करते हुए वल्लभ कहते है कि " चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा" तद् शब्द से पूर्वोक्त श्रीकृष्ण का ही परामर्श है । चित्त का कृष्णप्रवण। कृष्ण के प्रति मन की सहज गति। होना ही सेवा है । "सत्त्व एवैकमनसो वृत्ति: स्वाभाविकी तु या । अनिमित्ता भागवती भक्ति: सिद्धेर्गरीयसी"- इस भागवत वाक्य में मनोवृत्ति का ही भक्ति स्वरूपत्व कहा गया है । चित्तवृत्ति के चित्त से अभिन्न होने के कारण वल्लभ ने कृष्ण-प्रवण चित्त का जो सेवारूपत्व कहा है वह ठीक ही है । श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कन्ध मे कहे गये जिस निर्गुण भक्ति योग को वल्लभ " अस्मत्प्रतिपादिताभक्ति:" कहकर उद्धृत करते है वह भी यही है । यही मानसी सेवा भक्ति शब्द के मुख्यार्थ के रूप वल्लभ को अभिप्रेत है ।

किन्तु यह मानसी भक्ति सबको अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाती अपितु इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है और यह साधना भी भक्ति के द्वारा ही होती है । इसीलिए वल्लभ ने तनुजा और वित्तजा सेवाओं का भी विधान किया है । " चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा"-(सिद्धान्त मुक्तावली 2) । भक्ति का स्वरूप विधायक तत्त्व स्नेह ही है इसलिए भक्ति का भावरूपत्व ही सिद्ध होता है । मानसी भक्ति ही रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति कहलाती है । यह अपने आप में फलरूपा तथा भक्तों का परमकाम्य है । तनुजा वित्तजा सेवाएँ तथा भक्तिमार्ग के सभी साधन अनुष्ठान इस पराभक्ति के साधन स्वरूप हैं । इस प्रकार भक्ति पद से साध्य भक्ति और साधन भक्ति दोनों का ग्रहण होता है । आचार्य वल्लभ ने भक्ति मार्ग में प्रवेश पाने का जो एकमात्र उपाय बताया है वह है-"श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन होना ।" भक्तिमार्ग जीव प्रयत्न सापेक्ष नहीं है जिस जीव पर भगवान की कृपा होती है उसे ही वे भक्ति मार्ग में अंगीकार करते हैं । वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान का यह अनुग्रह "पुष्टि" शब्दवाच्य है । श्रीमद्भागवत का "पोषणं तदनुग्रहः" यह वाक्य इस पुष्टि सिद्धान्त का आधार है । इस पुष्टि सिद्धान्त को आधार बनाकर वल्लभ ने जिस भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है उसे वे "पुष्टिमार्ग" की संज्ञा देते हैं । संक्षेप में "पुष्टि" का स्वरूप इस प्रकार है:-पोषणं तदनुग्रहः तथा "कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका" इस निबन्धोक्ति से पुष्टि अनुग्रहरूप भगवद्धर्म है । यह एक स्वतन्त्र भगवद्धर्म है जो कृपा, अनुकम्पा आदि शब्दों से वाच्य है । यह सर्वविलक्षण और लौकिकालौकिक फलसाधक है अतः अधिकार विशेष होने पर साधनों की अपेक्षा न रखते हुये भी यह पुष्टि श्लाघ्य फल प्रदान करती है । पुष्टि भी सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार की

है । सामान्यपुष्टि चारों पुरूषार्थों की साधिका है किन्तु विशेष पुष्टि केवल "भगवत्स्वरूपफलिका" भक्ति ही सम्पादित करती है । विशेषपुष्टिजन्य यह भक्ति पुष्टिभक्ति कहलाती है । इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भगवत्स्वरूप के ज्ञान और तज्जन्यभक्ति का अधिकारी वही है जिसका भगवान आत्मीय रूप से "वरण" करते हैं ।[1] भगवान के द्वारा जीव का यह वरण या अंगीकार अनुग्रह जन्य होता है । कृपा के अभाव में पुष्टिमार्ग में रूचि ही उत्पन्न नहीं होती । कृपा के अप्रत्यक्ष होने से तज्जन्य जो पुष्टिमार्ग में रूचि है उससे ही कृपा का अनुमान होता है । आचार्य वल्लभ ने "तत्त्वदीपनिबन्ध" में लिखा है:-"कृपा-परिज्ञानं च मार्गरूच्या निश्चीयते ।" शुद्धाद्वैत मत का साधना पक्ष पूर्णरूपेण पुष्टि पर ही आधारित है ।

वल्लभाचार्य ने सामान्य रूप से तीन मार्गों का कथन किया है §1§ प्रवाह §2§ मर्यादा §3§ पुष्टि । कर्म ज्ञान और भक्ति क्रमशः इनके प्राणतत्त्व हैं । स्वभाव, फल और अनुवर्ती जीवों की अपेक्षा से इन तीनों का भेद उपपन्न है ।[2]

प्रवाहमार्ग-

विषय भोग के सामान्य सांसारिक जीवन तथा जन्म-मरण के अहर्निश गतिशील चक्र का ही नाम प्रवाह है । प्रवाह का अर्थ है सर्गपरम्परा की अविच्छिन्नता और यह प्रवाह प्रलयपर्यन्त अबाधगति से प्रवाहित होता रहता है

1- भक्तिहंस, पृ0 6

2- "पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ।"-§पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ।§

मर्यादामार्ग-

वेदविहित कर्मादि का अनुसरण करते हुये ज्ञान प्राप्ति के लिए यत्न करना मर्यादा है । मर्यादा का अर्थ है नियमों का अनतिक्रमण है । यह मार्ग प्रमुख रूप से साधन मार्ग है ।

पुष्टिमार्ग-

यह मार्ग स्वभाव तथा फल दोनों ही दृष्टिकोण से अन्य दोनों मार्गों से भिन्न है । गीता में भगवान ने सभी कर्म एवं ज्ञानपरक साधनों का निषेध कर अपना भक्त्यैकलभ्यत्व कहा है ।[1] यह भक्ति अनुग्रहजन्य ही होती है अतः भक्तिकारणीभूत पुष्टि का उत्कर्ष होने से यह पुष्टिमार्ग पूर्वोक्त मार्गों से भिन्न है । वैसे यह तीनों मार्ग थोड़ी बहुत मात्रा में एक दूसरे से संसृष्ट हैं क्योंकि वल्लभ के अनुसार भक्ति ज्ञान और कर्म जब विजातीय संवलित होते हैं तभी उनका "मार्गत्व" होता है शुद्ध और केवल रूप में तो वे सभी भगवद्धर्म हैं ।[2]

भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति भी द्विविध है- मर्यादाभक्ति रूप और पुष्टिभक्ति रूप । जिस जीव का वरण भगवान मर्यादाभक्ति मार्ग में करते हैं उसे मर्यादाभक्ति प्राप्त होती है और जिसका वरण पुष्टिभक्ति मार्ग में करते हैं उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है । "वरणे चास्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेन" भक्तिहंस के इस वाक्य से इस कथन की पुष्टि होती है । इस वरण में भगवदिच्छा ही नियामिका है । भगवान सृष्टि के पूर्वकाल में ही "इस जीव से ऐसा कर्म कराकर ऐसा फल दूँगा" यह निश्चय कर लेते हैं । जिस जीव को जिस मार्ग में अंगीकृत करते हैं उसे उस मार्ग में प्रवृत्त

1- नाहं वेदैः न तपसा --------प्रवेष्टुं च परंतप ।"-(गीता 11/53,54)

2- पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद श्लोक 13-14 पर "विवरण" ।

कर तदनुसारी फल प्रदान करते हैं ।[1]

मर्यादामार्ग मुख्य रूप से साधनमार्ग है । इसमें साधक वेदोक्त, शास्त्रोक्त सभी नियमों का पालन करते हुये विहित साधनों का अनुष्ठान करते हुये भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न करता है । ज्ञानभक्ति रूप जो मुक्ति के विहित साधन हैं उन जीवकृतिसाध्य साधनों के द्वारा जीव की जो मुक्ति है वह मर्यादामार्गीय मुक्ति कहलाती है । इससे स्पष्ट है कि अर्चनवन्दन आदि नव लक्षणों वाली विहिता या साधनभक्ति इसी मर्यादामार्गीय भक्ति का अंग है पुष्टिभक्ति का नहीं । पुष्टिमार्ग में तो इन विहित साधनों के अभाव में भी स्वरूपबल से ही भगवान भक्तों को अपनी प्राप्ति कर देते हैं ।[2]

मर्यादामार्गीय भक्त की भक्ति प्रयोजन सापेक्ष होती है वह प्रयोजन चाहे लौकिक हो या अलौकिक । अनुग्रहरूपा पुष्टि के जो सामान्य विशेष दो भेद हैं उनमें से सामान्य अनुग्रह रूपा पुष्टि जो चतुर्फल साधिका है मर्यादा भक्ति मार्ग की नियामिका है । पुष्टिमार्ग का स्वरूप इसके विपरीत है । यह अविहिता या रागानुगा भक्ति है । इस मार्ग में भगवान समस्त साधनों के अभाव में अपने अनुग्रह मात्र से जीव को अपनी प्राप्ति करा देते हैं । वह स्वयं ही साधन है एवं स्वयं ही साध्य हैं । पुष्टिमार्गीयों की इहलौकिकअथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार के किसी फल में रूचि नहीं होती । पुरूषोत्तम प्राप्ति ही उनका एकमात्र लक्ष्य है । पुष्टिभक्त लयात्मक मुक्ति स्वीकार नहीं करते वे तो भगवान ही जिसका लक्षण या स्वरूप है ऐसे उद्भट भक्तिभाव के आकांक्षी होते हैं । मर्यादामार्ग में भक्ति भी ज्ञान कर्म रूप इतर साधनसापेक्ष होकर ही साधक का इष्टार्थ सम्पन्न करती है स्वतंत्र रूप से नहीं । मर्यादा मार्ग में श्रवणादि से पहिले ज्ञानोदय और पापक्षय होता है तब प्रेमरूपा भक्ति उत्पन्न होती है तब जाकर मुक्ति प्राप्त होती है । जबकि पुष्टिमार्ग में प्रेमाभक्ति के लिए नवधा भक्ति के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है । इस मार्ग

1- अणुभाष्य- 3/3/29, 2- अणुभाष्य- 3/3/29

में श्रवणादि भी फलरूप है स्नेह से किये जाने के कारण वे विधि के विषय नहीं है ।

मर्यादामार्गीय का क्रियमाण कर्मों से अश्लेष हो जाता है तथा उसके संचित कर्म भी नष्ट हो जाते है किन्तु उसके प्रारब्ध का नाश नहीं होता जबकि पुष्टिमार्गीय भक्तों के प्रारब्ध और अप्रारब्ध दोनों ही प्रकार के कर्मों का भोग के बिना ही नाश हो जाता है ।

वल्लभाचार्य ने पुष्टिभक्ति के भी चार भेद परिगणित किये हैं:- प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टिपुष्टि तथा शुद्धपुष्टि । इन चार प्रकार की पुष्टिभक्ति के अधिकारी जीवों का भी इसी दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है । "सिद्धान्तमुक्तावली" में वल्लभ ने लिखा है कि ये पुष्टि जीव भी दो प्रकार के हैं शुद्ध तथा मिश्र । मिश्र जीव प्रवाहादि भेद से पुनः तीन प्रकार है:- पुष्टि से मिश्रित "सर्वज्ञ", मर्यादा से मिश्रित "गुणज्ञ" तथा प्रवाहमिश्र "क्रियारत" कहलाते है । शुद्धपुष्टि जीवों का ज्ञापक प्रेम है और ये अत्यन्त दुर्लभ है । इस विविधता में भी भगवान का लीला वैचित्र्य ही कारण है ।

यहाँ पुष्टि आदि से पुष्टिमार्गादि ही विवक्षित है । इन मार्गों का नियामक भगवदनुग्रह भी फलभेद से केवल और मिश्र दो प्रकार का है ।

§1§ §"एते मत्स्वरूपं जानन्तु" इस अभिध्यापूर्वक जो पुष्टि है उससे मिश्रित पुष्टिभक्ति पुष्टिपुष्टि है । यह अनुग्रहान्तर भजनोपयोगी ज्ञानजनक होता है । पुष्टि-पुष्ट भक्त भगवत्स्वरूप, लीलास्वरूप, प्रपञ्चस्वरूप आदि के ज्ञाता होते हैं । इन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है । ये ही ज्ञानमिश्र भक्त हैं जो ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं ।

§2§ "मद्गुणान् जानन्तु" इस अभिध्यापूर्वक जो मर्यादा है उससे मिश्रित पुष्टिभक्ति मर्यादापुष्टि कहलाती है । मर्यादापुष्ट भक्त भगवान के तत्त्वादि तथा ब्रह्मत्त्व, ऐश्वर्य आदि गुणों के ज्ञाता होने के कारण गुणज्ञ कहलाते है । मर्यादा

से मिश्रित होने के कारण ये पुष्टिभक्त विषयासक्ति त्यागकर भगवत्कथा श्रवण आदि में प्रवृत्त होकर भगवान के दिव्य गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं ।
(3) मद्गुपासद्विपस एते भवन्तु इस आविष्टतापूर्वक प्रवाह से मिश्रित पुष्टिभक्ति प्रवाह पुष्टि कहलाती है । प्रवाहद्रुपत्त होने के कारण ये भक्त केवल कर्म में रुचि रखने वाले होते हैं । किन्तु पुष्टि भक्त होने के कारण भगवदुपयोगी क्रियाओं में ही संलग्न रहते हैं । इसी से ये "क्रियारत" कहलाते हैं ।
(4) शुद्धपुष्टिभक्त केवल प्रेम प्रधान होते हैं । श्रीकृष्ण में अनन्य आसक्ति और [illegible] प्रेम [illegible] हैं । ये भगवान की परिचर्या गुणगान आदि स्नेह से ही करते हैं ।

जीव के द्वारा पुष्टि-पुष्टि के लिये ही प्रयत्न किया जाना चाहिए तथा भगवद् भजन में उपयोगी पुरुषोत्तमस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भजन करना चाहिए । अन्तिम शुद्ध-पुष्टि तो केवल ईश्वर प्राप्त ही है । वल्लभ ने कहा भी है "भक्ति: शुद्धा स्वतंत्रा च दुर्लभेति न शोच्यते ।" इन चारों प्रकार के पुष्टिभक्तों में "मोक्षपर्यन्तफलकांक्षा विरहत्व" सामान्य होता है । अर्थात् भगवद्भक्ति तथा भगवत्स्वरूप प्राप्ति के अतिरिक्त इनका और किसी फल से कोई प्रयोजन नहीं होता । पुष्टि भक्ति मार्ग में भगवान भक्त के अधीन रहते हैं:-

" कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते ।"

कृष्णभक्ति मुख्य रूप से भाव प्रधान है अत: कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में नवधा भक्ति का विस्तृत विश्लेषण नहीं मिलता तो भी राग की उत्पत्ति के पूर्व फिर राग के उत्तरोत्तर वर्धन में उसकी स्थिति और उपयोगिता निश्चित रूप से स्वीकृत है । नवधाभक्ति को ही वैधी या विहिता भक्ति भी कहा जाता है । नवधाभक्ति के श्रवण, कीर्तन आदि आरम्भिक अंग मुख्यत: क्रियापरक है किन्तु उत्तरवर्ती वन्दन, दास्य, सख्य आदि अधिकाधिक भावपरक होते जाते हैं ।

दास्य और सख्य तो कृष्णभक्ति में भावरूप से गृहीत है । किन्तु यहाँ नवधाभक्ति में उनका ग्रहण वैधी या कृतिसाध्य भक्ति के अंगों के रूप में ही हुआ है प्रेमलक्षणा भक्ति की भावभूमियों के रूप में नहीं । नवधाभक्ति के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होता है, सांसारिकता का उद्वेग कुछ मन्द पड़ता है तभी व्यक्ति के हृदय में भगवान का माहात्म्य ज्ञान स्फुरित होता है । नवधाभक्ति के द्वारा उर्वर बनाये गये हृदय में ही भगवत्प्रेम का अंकुरण संभव है । इसीलिए पुष्टिमार्ग में भी एक सेवा प्रणाली निश्चित है जिसके अनुसार श्रीकृष्ण की अहर्निश सेवा होती है ।

वाल्लभ सम्प्रदाय में नवधाभक्ति के अन्तर्गत भगवान की यथाविध लीला श्रवण का विशेष महत्त्व है । भगवत्कथा श्रवण से भगवान में श्रद्धा और आदर उत्पन्न होता है । ईश्वर के कृपालु स्वभाव को जानकर मन की मलिनता दूर होती है । वल्लभ ने अष्टप्रहर सेवा में कीर्तन या लीला गान का विशेष आयोजन किया था । आचार्य ने स्मरण के अन्तर्गत लीला स्मरण को अधिक महत्त्व दिया वैसे साधना की परिपक्वावस्था में यही भी जाप-जप की ही भाँति सूक्ष्म और आन्तर हो जाता है । श्रवण, कीर्तन और स्मरण से भगवान का जो माहात्म्यबोध होता है उसकी स्वाभाविक परिणति "पादसेवन" है । दैन्यपूर्वक अहंकार का परित्याग कर भगवान की सेवामात्र "पादसेवन" कहलाती है । पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से भगवान् के श्रीविग्रह की षोडशोपचार पूजा अर्चन भक्ति है । साधना गहन होने पर ये अर्चन भावनात्मक हो जाता है । तब व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा अर्चना बन जाती है । आराध्य की दिव्यता का अनुभव कर अभीभूत हो उठना ही वन्दन है । इस अवस्था में उनका गुणगाता स्वतः होने लगता है । दास्यभाव से भक्ति करने पर दैन्य उत्पन्न होता है और दैन्य भक्ति की सबसे बड़ी अपेक्षा है । भक्त का स्नेह और उस स्नेह का भगवान की ओर से दिया जाने वाला प्रत्युत्तर दोनों से

मिलकर भक्त और भगवान के बीच सख्य भाव स्थापित होता है । आठों प्रकार के साधनों के अनुष्ठान से जब भक्त के हृदय में भगवान का माहात्म्यज्ञान सर्वथा प्रकाशित हो जाता है और ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न हो जाता है तब भक्त अपना सर्वस्व अपना स्वत्व भी उन्हें निवेदित कर देता है ।

वल्लभ इस नवधा भक्ति को मर्यादा मार्ग या मर्यादा भक्ति का ही आवश्यक अंग मानते हैं । पुष्टिभक्ति का नहीं । भगवान जिन्हें मर्यादा मार्ग में स्वीकार करते हैं उनके लिए शास्त्रोक्त कर्मों के साथ इस वैधी भक्ति का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि इसी भक्ति की सहायता से प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है अतः यह साधनरूपा है । लेकिन ऐसा नहीं कि पुष्टिमार्ग में नवधा भक्ति के लिए कोई स्थान न हो बल्कि पुष्टिमार्ग में नवधा भक्ति वैधी भक्ति का अंग नहीं होती न ही इसका साधन रूपत्व होता है । पुष्टिमार्गीय भक्त तो स्वतः प्रेम सम्पन्न होते है । अतः इस मार्ग में श्रवणादि भक्त के भगवत्प्रेम की सहज अभिव्यक्ति मात्र होते हैं । संक्षेप में वल्लभ मत में नवधाभक्ति का यही स्वरूप है ।

आचार्य वल्लभ ने अपने सिद्धान्त में विस्तारपूर्वक पुष्टिमार्ग की मान्यताओं तथा पुष्टिमार्गीय भक्तों के आचार-व्यवहार और करणीय-अकरणीय की व्याख्या की है । इस सम्प्रदाय में प्रायः दो संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं- शरण मन्त्रोपदेश और आत्मनिवेदन । प्रथम संस्कार वैष्णवत्व में स्वीकार करता है और दूसरा सेवा मार्ग में अधिकारी बनाता है । सिद्धान्त रहस्यम् में वल्लभ ने शरणमंत्रोपदेशरूप पुष्टिमार्गीय दीक्षा या ब्रह्म सम्बन्ध पर विचार किया है ।

प्रथम दीक्षा वल्लभ के किसी वंशज व्दारा कान में "श्रीकृष्णः शरणं मम्" यह मंत्र दुहरा कर तथा गले में तुलसी की कण्ठी डालकर दी जाती है । यह कण्ठी वैष्णवत्व का प्रतीक है दूसरी दीक्षा भी प्रायः वल्लभ के किसी वंशज व्दारा ही सम्पन्न की जाती है । इस सम्प्रदाय का यह एक स्वीकृत तथ्य है

कि वल्लभाचार्य ही एकमात्र आचार्य है उनके किसी वंशज या शिष्य ने चाहे वह कितना भी बड़ा विद्वान क्यों न हो कभी आचार्यत्व की कामना नहीं की । वे केवल "गुरुद्वार" कहलाते है । ऐसी मान्यता है कि आचार्य वल्लभ ही इस "गुरुद्वार" के माध्यम से शिष्य को दीक्षा देते हैं । इस सम्प्रदाय के विद्वान या गोस्वामी आज भी शिष्य को दीक्षा आचार्य वल्लभ के नाम से उनके ही उत्तरदायित्व पर देते हैं । सेवा का अधिकार प्रदान करने वाली जो दूसरी दीक्षा है वह पुष्टिमार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसे ही वल्लभ ब्रह्म सम्बन्ध कहते हैं । इस ब्रह्म सम्बन्ध के द्वारा भक्तिमार्ग में दीक्षित व्यक्ति के सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज सभी पाँच प्रकार के दोष नष्ट हो जाते हैं ।[1] "ब्रह्मसम्बन्ध" में शरणगमनपूर्वक आत्मनिवेदन होता है । दीक्षित व्यक्ति अपना स्व और स्वीय दोनों श्रीकृष्ण को अर्पित कर देता है और पूर्णरूप से उनका अथवा तदीय हो जाता है । जीव का यह तदीयत्व सम्पादन पुष्टिमार्ग की प्रथम अपेक्षा है । आत्मनिवेदन संस्कार के समय दीक्षित होने वाला व्यक्ति जो प्रतिज्ञा करता है वह इस प्रकार है:-

" सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशा
नन्दतिरोभावो हं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तः करणानि
तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह
समर्पयामि दासो हं कृष्ण तवास्मि ।"

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सम्बन्ध स्थापित कराने वाली यह प्रतिज्ञा स्वयं भगवान कृष्ण द्वारा उन्हें बताई गई थी ।[2] इस प्रतिज्ञा के द्वारा जीव यह

1- सिद्धान्त रहस्यम् - 2-4

2- " " - 1 श्लोक

सब कुछ श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर देना है जो उसकी अहन्ता ममता की परिधि में आता है । जीव की यह भगवदीय स्थिति ही आत्मनिवेदन की चरम परिणति है । सुबोधिनी में वल्लभ ने लिखा है:- "आत्मदानेन बुद्धिरेव भगवति समर्पणीया" (सुबो० 1/9/32) । ब्रह्म सम्बन्ध के पश्चात् जीव को साक्षात् पुरुषोत्तम की सेवा का अधिकार प्राप्त हो जाता है । जीव को प्रभु की यह सेवा अपने वित्त, वैभव, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी सभी के साथ करनी चाहिए । वल्लभ कहते है कि समस्त कार्यों के प्रारम्भ में ही सब वस्तुएं भगवदर्पित कर देनी चाहिए:- "तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम्" (सि०र० 6) । पुष्टिमार्गीय भक्त की भगवान के प्रति वही भावना होनी चाहिए जो सेवक की स्वामी के प्रति होती है । जीव की कृतार्थता भी भगवान के उच्छिष्ट ग्रहण में ही है । पुष्टिमार्ग के इस सर्वात्मना आत्मसमर्पण के पीछे अहंकार और आसक्ति की निवृत्ति का महत् उद्देश्य है ।

भगवदीयता और आत्मनिवेदन के साथ-साथ पुष्टिमार्ग में शरणागति का विशेष महत्त्व है । शरणागति आत्मनिवेदन का मुख्य अंग है । आत्मनिवेदन होता ही है शरणागतिपूर्वक । शरणागति का सभी सम्प्रदायों में विशेष महत्त्व रहा है । रामानुज ने तो इसे प्रपत्ति की संज्ञा देकर इसे ही मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन स्वीकार किया है । प्रपत्ति के छः अंग हैं:- भगवान् के कृपाभाजन होने की योग्यता प्राप्ति, भगवत्प्रतिकूल आचरण का निषेध, भगवान रक्षा करेंगे यह विश्वास, रक्षक के रूप में भगवान का वरण अपनी दीनता का बोध तथा पूर्ण आत्मसमर्पण ।[1] वल्लभ ने शरणागति का जो रूप बताया है उसमें उपर्युक्त सभी

1- आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्

रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षोढा शरणागतिः ।।"

जाती जा सकती है । पुष्टिमार्ग में शरणागति का विशेष महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि वह भक्तिशरणागति से ही प्रारम्भ होती है । आत्मनिवेदन जो नवधा या मर्यादा भक्ति का अन्तिम सोपान है वह पुष्टि भक्ति का प्रथम सोपान है । कृष्णभक्ति में जो आत्मसमर्पण होता है वह व्यक्तित्व के स्थूलतम अंशों का भी होता है । केवल मानसिक वृत्तियों का समर्पण पर्याप्त नहीं है देहेन्द्रिय प्राण की भी समस्त ऋजु-कुटिल गतियाँ श्रीकृष्ण को समर्पित होती है यही "सर्वात्मना आत्मसमर्पण" है और यह शरणागतिपूर्वक ही होता है । एक बार श्रीकृष्ण को स्वामी और रक्षक स्वीकार कर उनकी शरण में चले जाने पर व्यक्ति को किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती है । श्रीकृष्ण त्रिकाल में भी अङ्गीकृत जीव का त्याग नहीं करते:-

" लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न दृष्टव्यः कदाचन ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।।" ॥अन्तःकरणप्रबोध 7॥

यह शरणागति दैन्यपूर्वक और सर्वथा निस्साधन भाव से होनी चाहिए:-

" कृष्णे सर्वात्मना नित्यं सर्वथा दीनभावना ।

अहंकारं न कुर्वीत सत्नापेक्षां विवर्जयेत् ।।" ॥त0दी0नि0 2/239॥

जब तक अपने कर्तृत्व और सामर्थ्य पर विश्वास है तब तक व्यक्ति वास्तविक अर्थ में शरणागत नहीं हो सकता । इसलिए पुष्टिमार्ग में दैन्य या कार्पण्य ही सबसे बड़ी योग्यता है ।

भावना की एकनिष्ठता या अनन्यता के बिना पूर्ण शरणागति सम्भव ही नहीं है अतः केवल श्रीकृष्ण में ही आत्मनिक्षेप कर उनकी ऐकान्तिक भक्ति करनी चाहिए । वल्लभ ने श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता के भजन का सर्वथा निषेध किया है । यदि किसी अन्य देवता का ध्यान मन में आए

भी तो उन्हें श्रीकृष्ण की विभूति या सेवक समझ कर समाधान कर लेना चाहिए ।[1] इस प्रकार वल्लभ ने अनन्य शरणागतिपूर्वक आत्मनिवेदन को पुष्टिमार्ग में अनिवार्य अपेक्षा माना है ।

भक्ति का परिपाक-

वल्लभाचार्य ने अपने "सिद्धान्तमुक्तावली" तथा "भक्तिवर्द्धनी" नामक प्रकरण ग्रन्थों में वल्लभ ने भक्ति के परिपाक और भक्ति बीज की दृढ़ता के उपाय पर विचार किया है । ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में ही अपने अनुग्रह भाजन जीव को अपने अत्यन्त प्रिय पुष्टिमार्ग में अङ्गीकृत करके उनमें पुष्टिभक्ति का सूक्ष्म बीज स्थापित कर देते हैं जो कालान्तर में परिवर्द्धित होता है ।

बद्ध अवस्था में पुष्टिमार्गीय जीव भी मायाकार्य सत्व, रजस् और तमस् से व्यापृत रहते है किन्तु पुष्टि बीज के अनश्वर होने से अन्तत: प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं । यह अवश्य है कि पुष्टिमार्ग के सात्त्विक अधिकारी की अपेक्षा राजस् और तामस् अधिकारियों को बाह्य साधनों का अधिक अवलम्ब लेना पड़ता है । त्यागपूर्वक पुष्टिमार्ग में कहे गये जो भगवदुक्त सेवा, श्रवण, कीर्तन आदि साधन है उनके करने से भक्ति का बीजभाव दृढ़ होता है । और भक्ति उपचीयमान होती है ।[2]

1- यत्र येषु जीवेषु भगवता परमार्थिकफला विशेषसाधनार्थं अलौकिकानुग्रह विशेषेण पुष्टिभक्तिबीजरूपा स्थापितास्ति ते पुष्टिमार्गीया: ।

-(प्रमेयरत्नार्णव पृ0 98

2- यथाभक्ति: प्रवृद्धास्यात् तथोपायो निरूप्यते
बीजभावे दृढ़ेतुष्यात् त्यागाच्छ्रवण कीर्तनात् ।

-(भक्तिवर्द्धिनी पृ0 1)

श्रवणादि की आवृत्ति से चित्त में जो भगवदावेश या भगवद्रूति उत्पन्न होती है वह अननुभूत विषया परोक्ष रुचि कहलाती है । इस परोक्ष रुचि से श्रवणादिरूप भजन होने पर बीज भाव रूप सूक्ष्म भक्ति परिवर्द्धित होती है । यही भाव श्रवणादि से सहकृत होकर हृदय में भगवत्स्फूर्ति कराता है । इस भगवत्स्फूर्ति से उस भगवतत्त्व का कुछ अनुभव होने पर अपरोक्ष रुचि उत्पन्न होती है । इस अपरोक्ष रुचि से श्रवणादि साधनों के द्वारा उपचय को प्राप्त होकर भक्ति बीज प्रेम या स्नेह रूप हो जाता है । यह स्नेह भगवान के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में राग का निवर्तक है वल्लभ ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है- "स्नेहाद्रागविनाशः स्यात्------ । तत्पश्चात् निरन्तर सेवा और श्रवणादि की आवृत्ति से यह स्नेह आसक्ति रूप हो जाता है । "भगवदितर विषय बाधकत्वस्फूर्ति सम्पादको भावः आसक्तिः ।[1] यही आसक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई व्यसनरूपा हो जाती है । यह व्यसनरूपा भक्ति ही श्रेष्ठ है यही मानसी सेवा कहलाती है । यही साध्यभक्ति एवं जीव का चरम पुरुषार्थ है-" यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदेव हि ।[2] इस प्रकार भक्ति के परिपाक की प्रेम आसक्ति और व्यसन ये तीन अवस्थाएँ हैं । इनमें से व्यसन साध्यरूपा है उसका विवेचन साध्यभक्ति में अधिक विस्तार से होगा ।

पुष्टिमार्ग में सेवा का विशेष महत्त्व है । भक्ति स्वयं सेवा रूप है । इस मार्ग में दीक्षित व्यक्ति का एकमात्र धर्म भगवत्सेवा ही है अन्य लौकिक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान उसके लिए आवश्यक नहीं है । इस मार्ग में श्रवणादि

1- प्रकरण पृ0 98

2- भक्तिवर्द्धिनी पृ0 5

भी भगवत्सेवा रूप ही है । नवधा भक्ति के अंग नहीं है ।

सेवा तीन प्रकार की है तनुजा, वित्तजा और मानसी । स्त्री, पुत्र, परिवार आदि के माध्यम से जो भगवत्सेवा की जाती है वह तथा स्वयं अपने तन की गई सेवा तनुजा कहलाती है । धन-वैभव से की गई सेवा वित्तजा एवं विशुद्ध भावपरक सेवा मानसी सेवा कहलाती है । चित्त की कृष्णरूपता या कृष्णप्रवणता ही इसका स्वरूप है । वल्लभ ने इसी मानसी सेवा को सबसे प्रमुख माना है । तनुजा एवं वित्तजा सेवाओं के द्वारा क्रमशः इसकी पात्रता सम्पन्न होती है किन्तु कुछ भक्त इसके अपवाद होते है । ऐसे भक्त प्रारम्भ से ही कृष्णप्रेम में ऐसे आत्मविह्वल रहते हैं कि उन्हें कुछ भी करने की सुधि नहीं रहती । ऐसे भक्त प्रारम्भ से ही मानसी सेवा करते हैं और उसकी पूर्वभूमिका के रूप में उन्हें तनुजा वित्तजा के सम्पादन की आवश्यकता नहीं होती है । ऐसे व्यक्ति श्रीकृष्ण के अतिशय कृपा के पात्र होते हैं । किन्तु सभी को श्रीकृष्ण की ऐसी कृपा साधना के प्रारम्भ में ही प्राप्त नहीं होती उनके लिए तनुजा और वित्तजा का अनुष्ठान आवश्यक है । इसी प्रयोजन से पुष्टिमार्ग में रात-दिन चलने वाली अष्टप्रहर सेवा का विस्तृत विवरण है । इन सेवाओं से मनुष्य के दैनन्दिन सामान्य क्रिया-कलाप को भी ईश्वरीय चेतना से अनुप्राणित करने की चेष्टा की गई है । इस प्रकार आत्मनिवेदन के पश्चात् स्वयं को भगवान का सेवक समझकर उनकी सेवा में कालयापन करना ही भक्त का कर्तव्य है ।

साध्य भक्ति-

साध्य भक्ति अनुरागात्मिका भक्ति है जो श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेम रूप है । इसे ही वल्लभ ने मानसी सेवा कहा है । साधना की प्रारम्भिक

अवस्था में जो तनुजा और वित्तजा सेवाओं तथा अन्यान्य साधनों का आश्रय लिया जाता है उनका प्रयोजन केवल इतना है कि उनके अनुष्ठान से श्रीकृष्ण में परम प्रेमरूपा भक्ति का उदय हो सके । इस प्रेमलक्षणा भक्ति का आश्रय श्रीकृष्ण हैं क्योंकि सर्वात्मरूप होने के कारण वे ही जीव का परम प्रेमास्पद हैं । श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति नित्य निरतिशय आनन्द से युक्त होने के कारण स्वयं पुरूषार्थ रूपा है । जीव का सर्वोच्च साध्य है । यह भक्ति उन्हें ही प्राप्त होती है जिन पर भगवान का अतिशय अनुग्रह होता है और जिनका भगवान स्वीयरूप से पुष्टिमार्ग में वरण करते हैं । प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन के क्रम से यह भक्ति दृढ़ होती है । सेवा श्रवणादि की आवृत्ति से निरन्तर वर्द्धमान होता हुआ प्रेम आसक्ति में परिणत होता है । यही आसक्ति उत्तरोत्तर घनीभूत होती हुई व्यसन का रूप धारण कर लेती है । यह व्यसन श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेम रूप है । यह जो व्यसनरूपा भक्ति है यही मानसी सेवा है । इस व्यसन भावापन्न भक्ति को ही वल्लभ सर्वश्रेष्ठ कहते हैं "यदा स्याद्व्यसनंकृष्ण कृतार्थः स्यात्तदैव हि" ॥भ. व. 5॥ । वस्तुतः यह प्रेम की ही क्रमशः प्रगाढ़ होती हुई तीन स्थितियाँ हैं इसी कारण कहीं-कहीं प्रेम शब्द से ही आसक्ति और व्यसन का भी कथन किया जाता है । यह व्यसन भावापन्न भक्ति ही वह निर्गुण भक्ति योग है जिसका श्रीमद्भागवत में कथन है । इस निर्गुण भक्ति योग की व्याख्या करते हुए महर्षि कपिल कहते हैं:-

" मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये,
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बु ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्,
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरूषोत्तमे ।।" ॥श्रीमद्भा० 3/29/21/12॥

भगवान के भक्त वात्सल्य आदि गुणों के श्रवण मात्र से सागर में गंगा के निरन्तर प्रवाह की भाँति उनमें चित्त की अविच्छिन्न गतिरूप अहैतुकी और अव्यवहिता

भक्ति है वही निर्गुण भक्तियोग है ।

अविच्छिन्न का अर्थ है प्रतिबन्ध रहित । जिस प्रकार पर्वतादि का मर्दन करती हुई गंगा सागर की ओर अग्रसर होती है वैसे ही समस्त लौकिक-वैदिक प्रतिबन्धों को दूर कर भगवान में जो अविरल चित्त-प्रवाह है वही निर्गुणभक्ति योग का स्वरूप है । मन की यह गति भगवान में निरूपाधि प्रेमरूप है ।

इस निर्गुणभक्ति की दो और विशेषताएँ हैं- यह अहैतुकी और आत्यन्तिकी होती है । वल्लभ लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करते हैं:- आत्यन्तिक भक्तेर्लक्षणमाह अहैतुकीति । या अहैतुकी पुरूषोत्तमे भक्ति स एव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत इति सम्बन्ध ।" पुरूषोत्तम में जो अहैतुकी भक्ति है वही आत्यन्तिक भक्तियोग है । यह भक्ति पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण में ही होती है, पुरूष स्वरूप या अवतारों में नहीं । भक्ति का तात्पर्य है प्रेमपूर्विका सेवा । निर्गुण भक्तियोग के सन्दर्भ में यह सेवा मानसी ही समझनी चाहिए क्योंकि यह भक्तियोग अविच्छिन्न मनोगति रूप ही है ।

अहैतुकी का अर्थ है फलकांक्षा रहित । इसकी व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं:- " सा अनिमित्ता भवति, स्वतंत्रा, भगवन्निमित्ता वा" । इसमें किसी प्रकार की कोई फलकांक्षा नहीं रहती, कोई निमित्त नहीं रहता, अन्त: यह "अनिमित्ता" कहलाती है । यही भक्ति स्वतंत्र पुरूषार्थरूपा होने के कारण "स्वतंत्रा" कहलाती है तथा भगवान ही इसमें निमित्तरूप होते हैं अतः यही "भगवन्निमित्ता" भी कही जाती है ।

अव्यावहिता का अर्थ है सातत्य या नैरन्तर्ययुक्त जिसमें काल अथवा कर्म से भगवत्सेवा में कोई व्यवधान न पड़ता हो । इस प्रकार सभी कामनाओं से रहित पुरूषोत्तम में चित्तवृत्ति का जो सतत् प्रवाह है वही आत्यन्तिक या

निर्गुण भक्तियोग है ।

यह भक्ति प्राकृत सत्वादि गुणों से परिच्छिन्न नहीं है अतः निर्गुण है । फलेच्छा रूप निमित्त का अभाव यह सूचित करता है कि इस भक्ति में गुणों का प्रतिसंक्रम नहीं है ।

यह निर्गुणा भक्ति ही वाल्लभमत में जीव का सर्वोच्च साध्य है । इसका दुर्लभ अधिकार केवल पुष्टिमार्गीय जीवों का ही होता है जो भगवान के अतिशय अनुग्रह भाजन होते है ।

प्रेम आसक्ति तथा व्यसन के पश्चात् सर्वात्मभाव की स्थिति आती है । यह अवस्था पुरूषोत्तम प्राप्ति में साक्षात् कारण है । सर्वात्मभाव साध्य भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है । व्यसनात्मिका भक्ति की चरमावस्था जब अत्यन्त प्रगाढ़ रूप धारण कर लेती है तब उसका यह सान्द्रभाव ही "सर्वात्मभाव" शब्द वाच्य है । वल्लभ कहते हैं कि भगवत्स्वरूप की प्राप्ति में विलम्ब न सहन कर पाने के कारण अत्यन्त आर्तभाव से सर्वत्र भगवत्स्वरूप की ही अनुभूति "सर्वात्मभाव" है ।[1] यह सर्वात्मभाव ही वास्तव में "परा विद्या" है, अक्षर विद्या में "परा" का प्रयोग गौण है । परमकाष्ठापन्न होने के कारण वेदान्त के चरम प्रतिपाद्य भी पुरूषोत्तम ही हैं । अक्षर ब्रह्म आदि तो पुरूषोत्तम की विभूति के रूप में अथवा पुरूषोत्तम प्राप्ति की स्वरूप योग्यता सम्पादक और मध्य अधिकारी के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं । अतः अक्षर-विद्या में परा विद्या का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए ।

1- प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिविलम्बासहिष्णुत्वेनात्यार्त्या स्वरूपातिरिक्ता --------। अणुभाष्य 3/3/43

यह सर्वात्मभाव "वरणजन्य" है स्वकृतिसाध्य नहीं । वल्लभ के अनुसार सामोपनिषद् में वर्णित भूमा विद्या का स्वरूप वस्तुतः सर्वात्मभाव की ही अवस्था है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी प्रत्ययान्तर का अवबोध न होना यही भूमा का स्वरूप बताया गया है और यही सर्वात्मभाव भी है । इस सर्वात्मभाव का कभी मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता है । भगवान ऐसे भक्तों के सदा परावर्ती रहते हैं ।

इस प्रकार की यह साध्यभक्ति ही पुष्टिभक्ति है तथा स्वयं फलरूपा है । इस भक्ति को ही देहपात के अनन्तर पुष्टिमार्गियों का "अलौकिक सामर्थ्य" कहा गया है । वल्लभ के अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्ति तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्बोध है । पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत पुष्टि मर्यादा का भी अतिक्रमण कर पुष्टि-पुष्टि में प्रवेश होने पर ही यह तत्त्व अनुभवगम्य होता है । इस मार्ग में प्रवेश भी भगवान के अतिशय अनुग्रह से ही सम्भव है । सामान्य भक्तों तथा ज्ञानियों के लिए मुक्ति ही फल है ।

निष्कर्ष-

भक्ति के साधन एवं साध्य दोनों पक्षों पर विस्तारपूर्वक विचार करने के बाद निष्कर्ष रूप में जो तथ्य सामने आते हैं उन्हें अब संक्षेप में कहा जा रहा है:- आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति ही वह एकमात्र साधन है जिससे जीव का कल्याण हो सकता है । ईश्वर की प्रेम पूर्वक की गई सेवा को ही इन्होंने भक्ति कहा है । इस सेवा का मानसी होना आवश्यक है तनुजा और वित्तजा सेवा इसके साधन स्वरूपा है । इस सेवा में चित्त का कृष्णप्रवण या कृष्णमय हो जाना आवश्यक है । इस भक्ति की प्राप्ति का एकमात्र उपाय "श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन होना ही है । वल्लभ ने ईश्वर के इस अनुग्रह को "पुष्टि"

शब्द से सम्बोधित किया है । यह पुष्टि एक स्वतन्त्र भगवद्धर्म है । यह पुष्टि भी सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार की है । आचार्य वल्लभ ने प्रवाह मर्यादा एवं पुष्टि के भेद से तीन मार्गों का कथन किया है । प्रवाह जन्म-मरण के अहर्निश गतिशील चक्र का नाम है । मर्यादा में वेदविहित कर्मादि का अनुष्ठान करते हुये ज्ञान प्राप्ति का यत्न करना पड़ता है तथा पुष्टिमार्ग भगवदनुग्रह जन्य है । इस प्रकार भगवदनुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति भी दो प्रकार की हुई ‡1‡ मर्यादाभक्ति ‡2‡ पुष्टिभक्ति । भगवद्वरण से ही ये दोनों प्रकार की भक्ति प्राप्य होती है । इस वरण की नियामिका भी ईश्वरेच्छा ही है । मर्यादा मार्ग में नवधा भक्ति तथा शास्त्रोक्त सभी नियमों का पालन किया जाता है तथा यह भक्ति प्रयोजन सापेक्ष होती है । प्रयोजन लौकिक हो या अलौकिक जबकि पुष्टिमार्ग का स्वरूप इसके विपरीत है यह अविहिता या रागानुगा भक्ति है । पुरूषोत्तम प्राप्ति ही इसका एकमात्र लक्ष्य है । ईश्वर अपने अनुग्रह मात्र से समस्त साधनों के अभाव में ही इस भक्ति की प्राप्ति करा देते हैं । इस पुष्टिभक्ति के भी चार भेद वल्लभ ने स्वीकार किये हैं:- प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टिपुष्टि एवं शुद्धपुष्टि । पुष्टि से मिश्रित भक्त सर्वज्ञ, मर्यादा से मिश्रित भक्त गुणज्ञ तथा प्रवाह मिश्रित क्रियारत कहलाते हैं । शुद्धपुष्टि जीवों का ज्ञापक प्रेम है । ये अत्यन्त दुर्लभ हैं । जीव के व्दारा पुष्टि पुष्टि के लिये ही यत्न करना चाहिए क्योंकि शुद्ध पुष्टि तो केवल ईश्वर प्रदत्त ही है । वल्लभ ने भागवत की नवधा भक्ति को मर्यादा मार्ग के अंग रूप से ही स्वीकार किया है । जबकि पुष्टिमार्ग में श्रवणादि भगवत्प्रेम की सहज अभिव्यक्ति मात्र होते हैं ।

पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिए वल्लभ सम्प्रदाय में शरण मन्त्रोपदेश तथा आत्मनिवेदन ये दो संस्कारों का विधान है । इसके साथ-साथ शरणागति का भी विशेष महत्त्व है ।

वल्लभ ने भक्ति के परिपाक और भक्तिबीज की दृढ़ता के उपाय भी बताये हैं । इस भक्ति के परिपाक की तीन अवस्थाएँ हैं:- प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन ।

पुष्टिमार्ग में सेवा का बहुत महत्त्व है । यह सेवा तनुजा, वित्तजा एवं मानसी के भेद से तीन प्रकार की है । अतएव आत्मनिवेदन के पश्चात् भगवद्सेवा में कालयापन करना ही भक्त का कर्तव्य है । साधन भक्ति के बाद भक्ति के साध्य स्वरूप का वल्लभ ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । यह श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेम रूप है । व्यसनभावापन्न भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ तथा जीव का साध्य है । वल्लभ भागवत में वर्णित निर्गुणभक्ति योग को ही साध्यभक्ति मानते हैं । यह निर्गुणभक्ति अहैतुकी एवं आत्यन्तिकी विशेषताओं वाली है । फलकांक्षा रहित होने के कारण यह अहैतुकी है तथा नैरन्तर्ययुक्त होना ही आत्यान्तिकी का सूचक है । प्राकृत गुणों से अपरिच्छिन्न होने से निर्गुण है । प्रेम आसक्ति एवं व्यसन के पश्चात् सर्वात्मभाव की स्थिति आती है । यह साध्यभक्ति की सर्वोच्च अवस्था है । इस सर्वात्मभाव का मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता । भगवान सदैव ऐसे ही भक्तों के वश में रहते हैं । स्वयं भगवान ने कहा है:- अहं भक्तपराधीन: । इस साध्यभक्ति को ही देहपात के अनन्तर पुष्टिमार्गियों का "अलौकिक सामर्थ्य" कहा गया है । संक्षेप में यही वल्लभ को अभिमत भक्ति के साधन व साध्य स्वरूप हैं ।

तुलनात्मक विवेचन

तुलनात्मक विवेचन-

चारों वैष्णव आचार्योंकी भक्ति विषयक संधारणा के सम्यक् विवेचन के पश्चात् उनके सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा भी आवश्यक है । तभी इस विषय की रूपरेखा स्पष्ट होगी ।

वैष्णव आचार्यों की परंपरा में श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य द्वैत, निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत तथा आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक हैं । वैष्णव वेदान्त की परंपरा में इन सभी आचार्यों का अपना विशिष्ट योगदान रहा है । और ये सभी उस विशाल वैष्णव धर्म और दर्शन के स्तम्भ हैं जिसने मध्यकालीन भारत की सम्पूर्ण मानसिकता को प्रभावित और स्थापित किया है । इन सभी आचार्यों के सिद्धान्तों में परस्पर अनेक समानताएँ हैं, क्योंकि इन सबका मनोविज्ञान लगभग एक जैसा ही है । सारे वैष्णव आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को मान्यता देते हैं तथा स्थूल से सूक्ष्म तक चेतना के सभी धरातलों पर उसकी अर्चना का विधान करते हैं। ब्रह्म के सगुण रूप की मान्यता होने के कारण वैष्णव चिन्तन में भक्ति की विशेष मान्यता रही है । यद्यपि अधिकारी भेद की दृष्टि से कर्म और ज्ञानादि प्रस्थानों का भी महत्त्व है किन्तु इन सबमें भक्ति ही श्रेष्ठ है ऐसा विचार प्रायः सभी वैष्णव दार्शनिकों का है । इस प्रकार सामान्य चिन्तन परंपरा का सदस्य होने के कारण यद्यपि वैष्णवाचार्यों में आधारभूत समानताएँ हैं तथापि उनकी अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं । कहीं-कहीं यह पारस्परिक भेद अत्यन्त सूक्ष्म है तथापि इन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत परिच्छेद में इसी दृष्टिकोण से इन सिद्धान्तों का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है और यथासंभव उन बिन्दुओं पर विचार किया गया है जो इनके सिद्धान्तों को एक दूसरे से अलग करते हैं ।

ये समस्त आचार्य अपने सिद्धान्त के जिन विन्दुओं पर अत्यधिक निकट है पहले उनका उल्लेख ही समीचीन है । समस्त वैष्णव आचार्यों के अनुसार भगवद् तत्त्व सगुण एवं साकार है । किन्तु इसके साथ ही इन्होंने ईश्वर को निर्गुण भी माना है तथा निर्गुण का अर्थ इनके अनुसार समस्त प्राकृत गुणों से रहित होना ही है । अनन्त कल्याणगुण निकेतन होने के कारण प्रभु सगुण कहलाते हैं । ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य, तेज इन षडगुणों से सम्पन्न होने के कारण ईश्वर की भगवान संज्ञा सम्पन्न होती है । इन्होंने ईश्वर को पर, विभव, व्यूह अवतार तथा अर्चा रूपों में व्यक्त माना है । ईश्वर जीव की भक्ति के अधीन होकर तथा अपनी लीला के आस्वाद के लिए इस प्राकृत लोक में अवतार धारण करते हैं । भगवान सर्वदा स्वामी, विभु तथा शेषी होता है और जीव स्वभाव से ही दास, अणु तथा शेष होता है । इन समानताओं के होते हुये भी ईश्वर की सृष्टि कारणता के विषय में इनमें परस्पर वैषम्य है । रामानुज के अनुसार ब्रह्म इस त्रिविध जगत की सृष्टि, स्थिति और लय का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है । जबकि मध्व के अनुसार ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं । क्योंकि एक सर्वोपरि ज्ञान सम्पन्न ईश्वर से जड़ जगत की उत्पत्ति संभव नहीं है । इनके मत में उपादान कारण तो प्रकृति होती है । जबकि निम्बार्क ने पुनः रामानुज के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है । उनके अनुसार श्रीकृष्ण जगत के निमित्त कारण इसलिए है क्योंकि वह जीवात्माओं को उनके अपने-अपने कर्मों तथा फलों के साथ संयुक्त करते हैं तथा ईश्वर की सूक्ष्मरूपिणी चिद् और अचिद् शक्तियों की अभिव्यक्ति ही सृष्टि रचना है इसलिए श्रीकृष्ण ही इस सृष्टि के उपादान (भौतिक) कारण भी हुये । निम्बार्क की ही भाँति वल्लभ भी ईश्वर के अभिन्ननिमितोपादानकारणता को ही स्वीकार करते हैं ।

ब्रह्म की जगत कारणता में आचार्यों के परस्पर समान तथा असमान विचारों की चर्चा के पश्चात् एक मुख्य विन्दु ब्रह्म जीव के पारस्परिक सम्बन्ध का उपस्थित होता है । इन चारों आचार्यों ने ब्रह्म तथा जीव जगत के सम्बन्ध को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है इसी के आधार पर इनके

सिद्धान्तों का नामकरण हुआ । आचार्य रामानुज ने ब्रह्म जीव सम्बन्ध को चार प्रकार से परिभाषित किया है:- शरीरशरीरीभाव, प्रकारप्रकारीभाव, अंशांशिभाव, विशेषणविशेष्यभाव । शरीरशरीरीभाव का अर्थ ये है कि चित् [जीव] तथा अचित् [जगत] ब्रह्म के शरीर स्वरूप है क्योंकि जिस प्रकार यह शरीर अपनी सत्ता एवं क्रिया के लिए आत्मा पर निर्भर है उसी प्रकार जीव जगत भी ब्रह्म के अधीन है । चित् और अचित् सारे ही पदार्थ उस परमपुरूष के शरीर होने से उसी के प्रकार है । यहाँ पर प्रकार से तात्पर्य कार्य एवं प्रकारी का अर्थ कारण है । इसी से रामानुज ने जीव ब्रह्म सम्बन्ध को प्रकारप्रकारीभाव की संज्ञा भी दी है । ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव ब्रह्म में अंशांशिभाव तथा विशेषणविशेष्यभाव शरीरशरीरीभाव का ही प्रतिफलन है । विशेषण स्वरूप जीव तथा जगत से विशिष्ट ब्रह्म की एकमात्र अद्वैत सत्ता मानने के ही कारण रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है । आचार्य मध्व ब्रह्म तथा जीव को बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से परिभाषित करते हैं । आचार्य यह सम्बन्ध जीव तथा ब्रह्म के नित्यसहवर्तित्व के आधार पर स्वीकार करते हैं । जबकि आचार्य निम्बार्क ब्रह्म जीव तथा जगत को परस्पर भेदाभेद रूप से सम्बन्धित मानते हैं । जीवात्मा तथा जगत ब्रह्म से इसलिए भिन्न हैं क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से भिन्न हैं तथा ये दोनों ब्रह्म से सर्वथा भिन्न भी नहीं हो सकते क्योंकि ब्रह्म के आश्रित होने से वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकते । वल्लभ सम्प्रदाय में जीव ब्रह्म सम्बन्ध अंशांशि रूप का है । इसके लिए वल्लभ ने अग्नि और स्फुलिङ्ग का उदाहरण दिया है । जड़ तथा जीव दोनों ही ब्रह्म से अग्नि से स्फुलिङ्ग की भाँति निकलते हैं ।

वैष्णवों के मोक्ष विषयक सिद्धान्त में भी बहुत ही साधारण सा अन्तर है वरन् ये सभी आचार्य मोक्ष की व्याख्या में एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। जैसे रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ सभी यही मानते हैं कि मुक्ति समुद्र में बिन्दु के विलय समान नहीं है प्रत्युत वह दो समकेन्द्री वृत्तों के मिलन के सदृश है जिसमें एक के ऊपर रखने से दूसरा वृत्त एकाकार अवश्य हो जाता है तथापि वह अपनी पृथक सत्ता तथा वैशिष्ट्य बनाये रखते हैं। सामीप्यादि मुक्ति भेदों में भक्त का भगवान से किंचिदंश में भेद बना रहना स्वाभाविक ही है परन्तु सायुज्य मुक्ति में भी जहाँ मुक्त जीव भगवान के साथ एक भावापन्न हो जाता है वहाँ भी जीव का पृथग्भाव ही रहता है। सभी आचार्य विदेहमुक्ति को ही स्वीकार करते हैं जीवन्मुक्ति को नहीं। विदेहमुक्ति होने पर ही जीव भगवान के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताता है। मुक्त दशा में भी जीव सेवा के निमित्त शुद्ध सत्व से निर्मित देह धारण करता है। रामानुज, मध्व, निम्बार्क के अनुसार तो मुक्तावस्था में भी जीव का स्वरूप अणु ही रहता है किन्तु वल्लभ ने मुक्ति की अवस्था के जीव का स्वरूप विभु मानते है इसी बिन्दु पर वल्लभ अन्य तीनों आचार्यों से अलग है।

वैष्णवाचार्यों द्वारा स्वीकृत जीव ब्रह्म सम्बन्ध ही भक्ति की भूमिका प्रस्तुत करता है। पृष्ठभूमि के रूप में आचार्यों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् अब हम मुख्य विवेच्य विषय अर्थात उनकी भक्ति विषय धारणा का तुलनात्मक आकलन प्रस्तुत करेंगे।

चारों आचार्यों की भक्ति विषयक धारणा का संक्षिप्त परिचय-

समस्त वैष्णव आचार्यों के भक्ति विषयक विभिन्न पहलुओं पर वर्तमान पारस्परिक साम्य एवं वैषम्य की चर्चा के पूर्व उनके भक्ति विषयक सिद्धान्त का

संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है ।

रामानुज-

वैष्णव आचार्यों के अनुसार भक्ति एक अत्यन्त विस्तृत धारणा है जिसके अन्तर्गत स्थूलतम कोटि की पूजा से लेकर सूक्ष्मतम आत्मदर्शन भी आ जाता है । श्री सम्प्रदाय की साधना पद्धति जीव तथा ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध शेषशेषीभाव को लेकर प्रवृत्त होती है । आचार्य ने ईश्वर के नारायण स्वरूप की भक्ति की है । रामानुज भक्ति के उपासनात्मक स्वरूप पर अधिक बल डालते हैं । उपासना को ही आचार्य वेदन तथा ध्यान आदि पदों से भी सम्बोधित करते हैं । अखण्डप्रवाहमयी स्मृति परंपरा ही ध्यान है । श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन भी आचार्य के मत में, ध्यान का ही एक प्रकार हैं । आगे चलकर आचार्य ने भक्ति के अन्तर्गत प्रपत्ति का मार्ग निर्धारित करके भक्ति को अधिक सहज रूप दे दिया है । यह मार्ग अशिक्षित, शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए अधिक सहज है । क्योंकि वे कठिन उपासनात्मक भक्ति का अनुष्ठान सरलतापूर्वक नहीं कर सकते । प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है । प्रपत्ति के इस मार्ग की दो शाखाएँ विभाजित हो गई ॥1॥ तिङ.लै ॥2॥ बड्कलै । तिङ.लैमत में मार्जार किशोर न्याय संक्षिप्त व्याख्या प्रचलित था जिसमें आत्मसमर्पण के बाद असहाय जीव की मुक्ति का मार्ग ईश्वर स्वयं प्रकट कर देते हैं । जीव पुरूषार्थ का इसमें मार्जार किशोर न्याय जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को मुँह में पकड़कर कोई विशेष महत्त्व नहीं है । जबकि बडकलै मत में कपि किशोर न्याय प्रचलित है । इस मत के अनुसार प्रपत्ति का प्रारम्भ मुमुक्षु के कर्म के साथ होता है । इस प्रकार इसमें जीव का प्रयास ही प्रधान है ।

मध्व-

आचार्य मध्व ने ईश्वर के प्रति निरन्तर प्रवाहित होने वाले सुदृढ

प्रेमप्रवाह को ही भक्ति की संज्ञा दी है । यह प्रेमप्रवाह किसी भी प्रकार के विघ्न से खण्डित नहीं होता । ईश्वर के प्रति इस प्रकार का प्रेम उनकी अतुलनीय भव्यता के प्रति सुदृढ़ विश्वास के द्वारा पुष्ट होता है । इस प्रकार आचार्य मध्व भक्ति के पूर्व माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता को अधिक महत्त्व देते हैं ।

" महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।
तयैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ।।"

निम्बार्क-

आचार्य निम्बार्क ने भक्ति को उपासना न मानकर प्रेम व श्रद्धा के रूप में स्वीकार किया है । इसीलिए इन्होंने भक्ति के वैधी तथा प्रेम इन दो स्वरूपों की चर्चा करके प्रेमाभक्ति को ही उत्तमाभक्ति की संज्ञा दी है:-

" कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते यथाभवेत् प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः साचोत्तमा साधन रूपिकापरा ।।"

श्री निम्बार्क ने अपने भक्ति विषयक सिद्धान्त में श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति श्री राधा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । राधा ही जीव की मार्गदर्शिका होने के कारण गुरू रूप में भी पूज्या है । अतएव जीव द्वारा आचार्या राधा के शरण में जाकर श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम की अपनी सहज प्रवृति को बनाये रखना ही भक्ति का यथार्थ स्वरूप है ।

वल्लभ-

आचार्य वल्लभ ने सेवा को ही भक्ति का स्वरूप माना है । चित्त का कृष्णप्रवण होना ही सेवा है । श्रीकृष्ण के प्रति मन को सहज गति ही चित्त की कृष्णप्रवणता है । लेकिन इस प्रकार की मानसी सेवा तनुजा वित्तजा सेवाओं के अनुष्ठान के पश्चाद ही प्राप्त होती है:-

"तत्स्तत्प्रवणा सेवा तत्सिद्ध्ये तनुवित्तजा ।" भक्ति का स्वरूप विधायक तत्व स्नेह होने का कारण भक्ति का भावरूपत्व तो सिद्ध ही है । इसीलिए भाव रूप वाली मानसी भक्ति ही श्रेष्ठ है । यही मानसी भक्ति रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति कहलाती है तथा यह स्वयं ही फलरूपा भी है ।

आचार्यों के भक्ति विषयक धारणा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करके अब परिच्छेद के मूल उद्देश्य आचार्यों के भक्ति विषयक सिद्धान्तर्गत पारस्परिक साम्य-वैषम्य की चर्चा करने के लिए एक तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है ।

"तुलनात्मक समीक्षा"

भक्ति के सिद्धान्त में सर्वप्रथम जिस तत्व की समालोचना आवश्यक है वह भगवत्कृपा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

भगवत्कृपा एवं जीव पुरूषार्थ-

सभी आचार्यों ने ईश्वर की कृपा के बिना भक्ति की कल्पना को भी असंभव माना है । जैसा कि श्री रामानुज ने स्पष्ट कहा है कि:- जिस जीव के ऊपर ईश्वर का अनुग्रह रहता है वही जीव उनकी भक्ति को प्राप्त कर सकता है । अपने इस विचार के समर्थन में उन्होंने गीता का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया है:-

" नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।"

रामानुज की ही भाँति मध्व भी भगवत्कृपा को ही सर्वोच्च स्थान देते हैं । श्री रामानुज तथा मध्य दोनों ही इस भगवत्कृपा में जीव पुरूषार्थ के लिए अवकाश रखते है । मध्वाचार्य के अनुसार श्रवण, मनन आदि भगवद् सम्बन्धी कर्मों के ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है । इस प्रकार इन्होंने स्पष्ट रूप से एकमात्र जीव

पुरूषार्थ को ही भगवत्कृपा का कारण माना है जबकि श्री रामानुज ने दो विकल्प प्रस्तुत किये हैं:- उनकी धारणा ये है कि भगवत्कृपा एक तो पूर्वजन्म के संचित शुभकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है दूसरे यदि हम ईश्वरके चरणों में पूर्णरूपेण आत्म समर्पण कर दें तो जीव पर ईश्वर का अनुग्रह स्वयमेव हो जाता है । इन दोनों ही विकल्प में जीव प्रयत्न ही भगवत्कैङ्•र्य का साधन बन रहा है क्योंकि पूर्वजन्म के संचित शुभकर्म भी तो वास्तव में जीव प्रयत्न ही है । मध्व से श्री रामानुज का जीव पुरूषार्थ के विषय में थोड़ा अन्तर यह दृष्टिगत हो रहा है कि इन्होंने शुभकर्मों के अतिरिक्त शरणागति या प्रपत्ति जीव का ब्रह्म चरणों में समर्पण ही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है । इसीलिए इनके सिद्धान्त में प्रपत्ति एक पृथक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि वे प्रपत्ति को प्रत्यक्ष रूप से मोक्ष का उपाय बताते हैं । यद्यपि प्रपत्ति मार्ग में भी मार्जार-किशोर-न्याय के समर्थक पूर्ण आत्म समर्पण के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के जीव प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते जबकि कर्म मर्कट-किशोर-न्याय के समर्थक शरणागति के साथ-साथ दूसरे प्रकार के जीव पुरूषार्थ को भी स्थान देते है । इन दोनों आचार्यों के समान ही श्री निम्बार्क भी भक्ति की प्रक्रिया में ईश्वर की कृपा को ही सर्वोच्च स्थान देते हैं तथा इस कृपा की प्राप्ति के लिए जीव पुरूषार्थ को भी इनके सिद्धान्त में उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस प्रकार श्री रामानुज का सर्वात्मना आत्म समर्पण का सिद्धान्त है । श्री निम्बार्क के अनुसार भी पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण के पश्चात् ही भगवतनुग्रह प्राप्ति की संभाव्यता उपस्थित होती है । रामानुज, मध्व तथा निम्बार्क के समान श्री वल्लभ भी भक्ति विषयक सिद्धान्त में भगवदनुग्रह को अनिवार्य स्वीकार करते हैं । इन्होंने इस अनुग्रह को "पुष्टि" की संज्ञा दी है । अन्य आचार्यों की तुलना में इनका अन्तर यह है कि वल्लभ इस भगवत्कृपा प्राप्ति में जीव पुरूषार्थ को कोई स्थान नहीं देते । उनके अनुसार "पुष्टि" एक स्वतन्त्र भगवद्धर्म है जो कृपा अनुकम्पा इत्यादि शब्दों से वाच्य है । भगवत्स्वरूप ज्ञान तथा तज्जन्य भक्ति का

अधिकारी वही जीव है जिसका भगवान आत्मीय रूप में "वरण" करते हैं ।
भगवान के द्वारा जीव का यह "वरण" अनुग्रह जन्य होता है । ईश्वर सृष्टि
के पूर्वकाल में ही " इस जीव से ऐसा कर्म कराकर ऐसा फल दूँगा " यह निश्चय
कर लेते है । इस प्रकार वल्लभ ने अन्य आचार्यों के समान भगवदनुग्रह में जीव
प्रयत्न को किसी प्रकार का महत्त्व नहीं दिया है । यही इनकी विशिष्टता
है । नहीं तो भक्ति के लिए भगवदनुग्रह की अनिवार्यता इन्होंने भी रामानुज,
मध्व तथा निम्बार्क की ही भाँति स्वीकार की है ।

भक्ति का स्वरूप-

भगवत्कृपा के द्वारा प्राप्त होने वाली इस भक्ति को किस स्वरूप का
इन चारों वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है अब तुलनात्मक दृष्टिकोण से ही
इसकी समीक्षा की जायेगी । सर्वप्रथम आचार्य रामानुज भक्ति के उपासनात्मक
स्वरूप पर बल देते हैं तथा इन्होंने प्रमुख रूप से भगवान विष्णु की ही दास्य
भाव से की जाने वाली उपासना को ही भक्ति की संज्ञा दी है । श्री सम्प्रदाय
की साधना पद्धति ही जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध रूप शेषशेषी भाव को लेकर
ही प्रवृत्त होती है अतएव भक्त तथा उपास्य के मध्य सेवक स्वामी भाव स्वयमेव
उपस्थित रहता है । जबकि इनके परवर्ती आचार्य मध्व ने ज्ञानात्मिका भक्ति
को ही मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया है । इन्होंने भी ईश्वर को
विष्णु रूप की ही भक्ति की है । रामानुज की भक्ति से यही साम्य परिलक्षित
होता है । मध्व ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान को ही भक्ति के रूप में व्याख्यायित
करके ज्ञान और भक्ति का जो मिला जुला स्वरूप मध्वाचार्य प्रस्तुत करते है वह
अन्य तीनों ही आचार्यों के भक्ति स्वरूप की व्याख्या में दृष्टिगोचर नहीं
होता । यद्यपि कि रामानुज, निम्बार्क तथा वल्लभ भी ईश्वरीय महिमा का
ज्ञान होना भक्ति के अनिवार्य मानते है लेकिन मध्व को कहीं-कहीं ज्ञान को

ही साक्षात् मोक्ष का साधन कह देते है यह इनकी विशिष्टता है । वास्तव में ज्ञान को जहाँ कहीं भी मुक्ति का साधन बतलाया गया है वहाँ ज्ञान में ही प्रेम पक्ष का भी अन्तर्भाव किया जाता है । उनकी भक्ति का स्वरूप ही ऐसा है । ऐसा नही कि मध्व ने भक्ति को प्रेम रहित रूप स्वीकार किया हो क्योंकि प्रेम तो भक्ति का प्राणतत्व है क्योंकि भक्ति मूलत: भावरूप ही है क्योंकि ईश्वर के प्रति निरन्तर बहने वाले प्रेम प्रवाह को ही मध्व भक्ति की संज्ञा देते है । हाँ इतना अवश्य है कि उन्होंने माहात्म्य ज्ञान की व्याख्या स्पष्ट विस्तार तथा स्पष्ट रूप में की है तथा मध्व की भक्ति का स्वरूप ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान एवं प्रेम का सम्मिश्रण है इसी से इनकी भक्ति का स्वरूप ज्ञानात्मिका भक्ति के रूप में ही उभर कर प्रस्तुत होता है । भक्ति के घटक तत्वों की तुलनात्मक समीक्षा में आगे अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत की जायेगी । इन दोनों आचार्यों की तुलना में निम्बार्क तथा मध्व ईश्वर के श्रीकृष्ण स्वरूप की भक्ति करते है इन आचार्यों की भक्ति में मधुर भाव का प्राचुर्य परिलक्षित होता है । श्री निम्बार्क में रामानुज के विपरीत भक्ति को उपासना न मानकर प्रेम व श्रद्धा के रूप में चित्रित किया है । वास्तव में निम्बार्क वह प्रथम आचार्य है जिन्होंने भक्ति के लिए श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा की भक्ति की अनिवार्यता प्रस्तुत की है । इसीलिए इनके सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण व राधा के युगल स्वरूप की उपासना होती है । श्री निम्बार्क के अनुसार राधा जी श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं तथा वे जीव की परम आचार्या है । राधा स्वयं श्रीकृष्ण के प्रेम में लीन रहती है अत: केवल उनका ध्यान करने मात्र से ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाती है । राधा की शरण में जाकर श्रीकृष्ण से अनन्य प्रेम की स्थापना ही इनके अनुसार भक्ति का यथार्थ स्वरूप है । इस प्रकार श्री रामानुज की उपासना एवं मध्व के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक प्रेम प्रवाह की तुलना में राधा सहित श्रीकृष्ण

के प्रति रसमग्न अनन्य प्रेम व श्रद्धा को ही निम्बार्क ने भक्ति का स्वरूप माना है । वल्लभ भी कृष्ण भक्ति शाखा के आचार्य है तथा इन्होने भी ईश्वर की मानसी सेवा को ही भक्ति माना है । वल्लभ माहात्म्य ज्ञान की तुलना भगवत्कृपा को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते है तथा इस भगवदनुग्रह को "पुष्टि" की संज्ञा देते हुये बताते हैं कि पुष्टि के प्राप्त होने पर ही भक्ति संभव है यह भक्ति चित्त की कृष्ण प्रबल स्वरूप की है । कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम होने पर ही चित्त की कृष्ण प्रवणता संभव है । इस रूप में ये निम्बार्क के अधिक निकट हैं । जबकि मध्व के अनुसार ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान के बाद ही प्रेम की उत्पत्ति संभव है लेकिन वल्लभ के अनुसार केवल पुष्टि के व्दारा भी कृष्ण के प्रति चित्त की एकतानता वृत्ति संभव है । रामानुज तो दैन्य भाव की उपासना करते है लेकिन वल्लभ तो सख्य, माधुर्य, वात्सल्य, दैन्य सभी भावों की उपासना को बराबर महत्त्व देते हैं ।

भक्ति का स्वरूप उसके घटक तत्वों की स्थिति पर विचार करने के बाद ही स्पष्ट होता है । घटक तत्वों की स्थिति क्रमानुसार इस प्रकार है:-

(क) माहात्म्य ज्ञान

(ख) प्रेम

(ग) शरणागति (प्रपत्ति)

(घ) सेवा

माहात्म्य ज्ञान-

माहात्म्य ज्ञान के विषय में मध्व ने अन्य तीनों आचार्यों की तुलना में अधिक विस्तारपूर्वक चर्चा की है । मध्व की भक्ति को इसीलिए ज्ञानात्मिका भक्ति की संज्ञा दी जाती है । रामानुज, निम्बार्क एवं वल्लभ भी भक्ति के लिए भगवदैश्वर्य ज्ञान को अपेक्षित तत्व के रूप स्वीकार तो करते है किन्तु मध्व

ने तो माहात्म्य ज्ञान एवं प्रेम के सम्मिश्रित स्वरूप की भक्ति को जीव के समक्ष प्रस्तुत किया है । मध्व के अनुसार वास्तविक भक्ति ज्ञान और प्रेम का समन्वित रूप है । ज्ञान भक्ति का ही एक हिस्सा है " ज्ञानस्य भक्ति भागत्वात् भक्तिज्ञानमितीर्यते ।" इसीलिए मध्व ने यहाँ तक कहा है कि शास्त्रों में जहाँ कहीं भी मुक्ति के साधन के रूप ज्ञान की प्रतिष्ठा की है वहाँ ज्ञान में ही भक्ति के प्रेम पक्ष का भी अन्तर्भाव समझना चाहिए । यद्यपि कि माहात्म्य ज्ञान होने पर ही ईश्वर के प्रति सहज प्रेम की उत्पत्ति संभव है और ईश्वर के प्रति मन की अविरल सहज गति ही भक्ति है । इसीलिए तो नवधा भक्ति में श्रवण का ही प्रथम स्थान है । प्रभु के नाम तथा उनकी लीला श्रवण से हमे उनकी महानता एवं भव्यता का ज्ञान होता है और उसी का स्मरण करते रहने पर हमारी भक्ति धीरे-धीरे सुदृढ़ होती है । सभी वैष्णव आचार्य साधन भक्ति के रूप में नवधा भक्ति को ही स्वीकार करते हैं इसलिए माहात्म्य ज्ञान को सभी आचार्य भक्ति का प्रथम घटक तत्त्व मानते है । इतना अवश्य है कि मध्व ने ज्ञान पर विशेष प्रकाश डाला है तथा ये ईश्वरीय ज्ञान उनके प्रति प्रेम के मिले जुले रूप को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं । इसी से माहात्म्य ज्ञान के विवेचन में प्रमुख रूप से उन्हीं का उल्लेख किया गया है ।

प्रेम--

प्रेम तो भक्ति का प्राण तत्त्व है । निम्बार्क तथा वल्लभ तो भावरूपा प्रेमाभक्ति की ही उत्तम प्रकार की भक्ति स्वीकार करते हैं । इन दोनों आचार्यों की तुलना में रामानुज एवं मध्वाचार्य प्रेम को भक्ति का तत्त्व तो स्वीकार करते हैं लेकिन रामानुज ज्ञानी भक्त व्दारा की जाने वाली उपासना को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं । प्रेम के अभाव में तो उपासना को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं । प्रेमे के अभाव में तो उपासना भी संभव नही है । लेकिन केवल प्रेम को

ही भक्ति स्वीकार करने में निम्बार्क एवं वल्लभाचार्य का ही नाम गण्य है। मध्व प्रेम की स्थिति भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं किन्तु इन्होंने प्रेम को बहुत ही संयत रूप में प्रस्तुत किया। भगवान के ऐश्वर्य ज्ञान के पश्चात् उनके प्रति मन का अभिभूत होना ही मध्व के दृष्टिकोण में प्रेम है। यह प्रेम ज्ञानपूर्वक है इसलिए इनकी भक्ति में प्रेम एक संतुलित एवं संयमित रूप में समविष्ट किया गया है। मूलत: सभी वैष्णव आचार्य ईश्वर के सगुण रूप मे उपासक हैं अतएव वे भगवान से किसी न किसी प्रकार का प्रेम सम्बन्ध स्थापित करके ही भक्ति की प्रक्रिया में प्रविष्ट होते हैं केवल सभी ने विभिन्न श्रेणी के प्रेम स्वरूप को स्वीकार किया है यही प्रेम की स्थिति में इनका परस्पर वैषम्य है।

शरणागति-

सम्पूर्ण रूप से किया गया आत्म समर्पण ही शरणागति कहलाता है। हमारे प्रथम वैष्णव आचार्य श्री रामानुज ने प्रपत्ति को भक्ति की पृथक शाखा के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार माहात्म्य ज्ञान के अभाव में तथा किसी प्रकार की साधनानुष्ठान से रहित होने पर भी पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण किये जाने पर ईश्वर का अनुग्रह सहज रूप से प्राप्त हो जाता है। प्रपन्न भक्त की रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ईश्वर के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस पर अधिक चर्चा न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि रामानुज द्वारा स्थापित यह प्रपत्ति मार्ग पर्याप्त लोकप्रिय हुआ तथा बाद में कुछ सूक्ष्म विन्दुओं पर मतभेद होने के कारण यह मार्ग दो शाखाओं में विभाजित हो गया। कथन का तात्पर्य यह है कि प्रपत्ति भक्ति का आवश्यक अंग है। अहंकारी व्यक्ति को भक्ति प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। मध्व, निम्बार्क या वल्लभ सभी इस शरणागति को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं लेकिन अधिक विस्तृत व्याख्या रामानुज तथा वल्लभ ने ही की है। अत: शरणागति के विन्दु पर ये दोनों आचार्य अधिक निकट प्रतीत होते हैं। वल्लभ के सम्प्रदाय में भी भक्ति का प्रारम्भ शरणागति के बाद ही होता है। कृष्णभक्ति में तो व्यक्तित्व के स्थूलतम अंशों का भी आत्मसमर्पण होता है। श्रीकृष्ण त्रिकाल में भी शरणागत

भक्त का त्याग नहीं करते हैं । इस प्रकार रामानुज पहले भक्ति सिद्धान्त की व्याख्या करके प्रपत्ति को भक्ति की एक शाखा के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं तथा वल्लभ की भक्ति प्रक्रिया शरणागति के बाद ही प्रारम्भ होती है अत: इन दोनों ने ही प्रपत्ति को भक्ति की अपेक्षा के रूप में किया है । मध्व तथा निम्बार्क भी वैष्णव आचार्य होने के कारण शरणागति को महत्त्व तो देते हैं किन्तु इनके सिद्धान्त में इसकी अधिक विस्तृत व्याख्या उपलब्ध नहीं होती ।

सेवा-

वैष्णवाचार्यों में से आचार्य वल्लभ ने भक्ति के अन्तर्गत सेवा के विषय में अधिक प्रकाश डाला है । इन्होंने कहा कि भक्ति पद में भज् धातु का अर्थ ही सेवा है तथा आगे चलकर इन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि सेवा पद से व्यंग्य प्रेमरूप मानसी सेवा ही भक्ति पद का योगरूढ़ अर्थ है । इसी से वे सेवा का लक्षण करते हुये कहते हैं कि " चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धये तनुवित्तजा" इसीलिए सेवा में मानसी सेवा के अनुष्ठान के लिए तनुजा वित्तजा सेवाओं की सहायता अनिवार्य रूप से उपस्थित होती है । इस प्रकार सेवा भक्ति का घटक तत्त्व ही नहीं वरन् भक्ति का स्वरूप है । वल्लभ सम्प्रदाय में प्रभु की अष्टप्रहर सेवा का विधान है । वल्लभ सेवा तत्त्व की विशिष्ट व्याख्या करने के कारण वैष्णव आचार्य परम्परा में विशेष महत्त्व रखते हैं । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये बाह्याडम्बर के पक्षपाती है । आचार्य रामानुज भी सेवा के समर्थक है । उनके अनुसार भी ईश्वर स्वामी तथा जीव दास है तथा दास्यभाव की भक्ति स्वीकार करने के कारण सेवा का भक्ति में अन्तर्भाव स्वयमेव हो जाता है । अत: रामानुज ने भी कहा कि अपने स्वामी, अन्तर्यामी, ईश्वर तथा स्वयं अपने स्वरूप से परिचित होकर तन, मन, धन से भगवान तथा भागवतों की निर्हेतुक तथा एकनिष्ठ सेवा ही भक्ति है । इस प्रकार रामानुज तथा वल्लभ दोनों ही तनुजा, वित्तजा तथा मानसी तीनों प्रकार की सेवा को भक्ति का स्वरूप स्वीकार करते हैं । जबकि वल्लभ की विशिष्टता यह है कि इन्होंने मानसी

सेवा को भक्ति तथा तनुजावित्तजा सेवाओं को इस भक्ति के साधन बताया है । मध्व तथा निम्बार्क भी वैष्णव परंपरा में आचार्य होने के कारण भक्ति में सेवा भाव को स्वीकार करते हैं क्योंकि भक्ति का शाब्दिक या भावार्थ स्वयं सेवा ही है । हाँ इतना अवश्य है कि मध्व तथा निम्बार्क ने सेवा को इंगित करके इसके विषय में पृथक रूप से कुछ नहीं कहा है ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि माहात्म्य ज्ञान शरणागति, प्रेम या सेवा भक्ति के इन सभी घटक तत्वों के सम्मिश्रण से ही भक्ति का स्वरूप निश्चित होता है । विभिन्न आचार्यों में से किसी ने एक तत्व पर अधिक बल डाला है तो किसी ने दूसरे तत्व पर । इसी हेतु इन तत्वों की समीक्षात्मक विवेचन से आचार्यों को मान्य भक्ति का स्वरूप तुलनात्मक रूप में स्पष्ट हो गया । जैसे रामानुज की दास्यभाव की उपासनात्मक भक्ति है तथा मध्व दास्यभाव से भी स्वीकार कर ज्ञान पर अधिक बल देते हुये ज्ञानात्मिका भक्ति को ही स्वीकार करते हैं । निम्बार्क ने राधा सहित श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम भाव की स्थापना को ही भक्ति माना है इस प्रकार उनकी भक्ति प्रेमाभक्ति रूप की है तथा वल्लभ ने मानसी सेवा को ही भक्ति का स्वरूप सिद्ध करते हुये सेवा प्रधान भक्ति की स्थापना की है । इसीलिए इनकी भी भक्ति में दास्यभाव ही है ।

भक्ति के भेद-

समस्त वैष्णवाचार्य भक्ति के साधन एवं साध्य दोनों पक्षों को स्वीकार करते हैं । क्योंकि यद्यपि भक्ति का साध्य स्वरूप अधिक श्रेष्ठ है तथापि साधन पक्ष का अनुष्ठान आवश्यक है । क्योंकि नाना विकारों से मलिन जीव का संस्कार साधन भक्ति के अनुष्ठान से ही संभव है । वेदार्थ संग्रह में श्री रामानुज ने भक्ति के इन दोनों पक्षों को साधन भक्ति तथा पराभक्ति की संज्ञा देते हुये कहा है कि

साधन भक्ति में शरीर, मन और वाणी का नियंत्रण अपने कर्तव्य कर्मों का पालन स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि की गणना होती है । ये सभी कार्य आत्मा को उन्नत करने में भगवद् चरणार विन्द में प्रेम व आस्था दृढ़ करने में सहायक होते हैं । इनके व्दारा प्रतिपादित साधन सप्तक भी आत्मा के विकास के लिए ही है जिसके अन्तर्गत विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष आदि की गणना की जाती है । आचार्य मध्व भी साधन भक्ति के अन्तर्गत श्रवण, मनन आदि क्रियाओं का समावेश करते हैं । उनके अनुसार श्रवण के व्दारा ईश्वर के विषय में अपनी धारणाओं का विकास करना चाहिए " शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ।" तथा आत्मा के माहात्म्य को सुनकर दत्तचित्त होकर उपासना करके यही परमात्मा का दर्शन करना चाहिए लगभग यही बात श्री रामानुज भी श्रीभाष्य में प्रतिपादित करते हैं । उन्होंने ध्यान को ही भक्ति का स्वरूप माना है तथा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को ध्यान का ही एक प्रकार कहा है ।[1] श्री निम्बार्क भी भक्ति के दोनों भेद को स्वीकार करते हुये दशश्लोकी में लिखते हैं कि:-

" कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते, यथाभवेत् प्रेमविशेषलक्षणा ।

भक्तिह्यनन्याधिपतेर्महात्मन: साचोत्तमा साधनरूपिकापरा ।।"

वल्लभ सेवा को ही भक्ति कहते है " चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धये तनुवित्तजा ।"

1- " श्रोतव्य " इति चानुवाद:, स्वाध्यायस्यार्थपरत्वेनाधीतवेद: पुरुष: प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनान्तनिर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तते इत श्रवणस्य प्राप्तत्वात् ।" - श्रीभाष्य 1/1/1

इस प्रकार उनके अनुसार तनुजा वित्तजा सेवाएँ तथा भक्ति मार्ग के सभी साधनानुष्ठान इस पराभक्ति के साधन स्वरूप हैं । इस प्रकार वल्लभ भी साधन भक्ति तथा पराभक्ति नामक दोनों भेद को स्वीकार करते हैं । साधन भक्ति को ही विहिता, वैधी, नवधा, गौणी, अपरा इत्यादि संज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता है । जैसा कि श्री निम्बार्क ने भी कहा है साधनरूपिका भक्ति अपरा है तथा उत्तमा भक्ति प्रेमविशेषलक्षणा है । जबकि परा, मुख्या, अविहिता, प्रेमा, निर्गुणा इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित होने वाली भक्ति ही साध्य भक्ति है । आचार्य वल्लभ ने साधन तथा साध्य के मध्य अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही मर्यादामार्ग तथा पुष्टिमार्ग नामक दो मार्गों का विभाजन भी कर दिया है ।मर्यादामार्ग में कर्मकाण्ड का अनुष्ठान होता है अतएव यह साधनामार्ग कहलाता है जबकि पुष्टिमार्ग में केवल चित्त की कृष्णप्रवणता ही मुख्य है । चूँकि श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य है अतएव यह अत्यन्त दुर्लभ जीव को ही प्राप्य है सामान्य जन के लिए तो मर्यादामार्ग का अनुष्ठान ही सहज है । अर्चन वन्दनादि नव लक्षणों वाली विहिता भक्ति इसी मर्यादामार्गीय भक्ति का अंग है । इसी रामानुज एवं मध्व ने भी जो श्रवण, मनन की परिगणना साधन भक्ति के अन्तर्गत की है वह नवधा भक्ति का ही स्वरूप है । नवधा भक्ति का सबसे अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन तो रामानुज सम्प्रदाय में स्वयं साक्षात् भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है । मध्व, निम्बार्क, वल्लभ सभी आत्मनिवेदन या शरणागति को भक्ति की प्रथम आवश्यकता स्वीकार करते है । इसलिए नवधा भक्ति स्पष्ट रूप से साधन भक्ति की कोटि में परिभाषित है ।

साध्य भक्ति-

साधन भक्ति के समान ही साध्य भक्ति के विषय में भी सभी आचार्य एक मत हैं । श्री रामानुज ने उपासना को ही साध्य भक्ति कहा है । उनके अनुसार हमे सर्वोपरि प्रभु का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि अन्तिम विश्लेषण

में अन्य कोई भी ध्यान का विषय नहीं बन सकता है । मध्व साध्य भक्ति को निष्काम भक्ति की संज्ञा देते है इस कथन में वह वल्लभ के अत्यन्त निकट हैं । क्योंकि आचार्य वल्लभ भी निर्गुण भक्ति योग को ही जीव का सर्वोच्च साध्य कहते हैं । क्योंकि निर्गुण भक्ति में भगवान ही एकमात्र निमित्त होते हैं । मोक्ष की स्थिति में भी हम सर्वदा इस साध्य भक्ति के कारण ही आनन्द का अनुभव करते रहते हैं । निम्बार्क साध्य भक्ति की स्थापना रागात्मिका भक्ति के रूप में करते है । वल्लभ भी साध्य भक्ति को सामान्य रूप से अनुरागात्मिका ही कहते हैं । प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन के क्रम से यह भक्ति परिपक्व होती है । यही व्यसनभावापन्न भक्ति ही निर्गुण भक्तियोग है । श्री निम्बार्क ने रागात्मिका भक्ति का इतना सुन्दर और शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है जितना कि वल्लभ के सिद्धान्त में दृष्टिगोचर होता है । निम्बार्क रसमयी भक्ति को रागात्मिका कहते हैं तथा उसके निरूपण के लिए चार प्रकार के रसों का सुन्दर विवेचन करते हैं ये चारों रस दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य हैं । इस प्रकार निम्बार्क साध्य भक्ति में भावरूप की अनुरागात्मिका भक्ति की स्थापना करते हैं । वल्लभ का साध्य भक्ति का सिद्धान्त अधिक विस्तृत रूप से व्याखयायित है भक्ति का भावरूपत्व तो सिद्ध ही है । प्रेम तो स्वयं भाव है तथा प्रेम भक्ति का प्राण तत्त्व है । इनकी तुलना में श्री रामानुज ध्यान पर अधिक बल डालते हैं इसलिए इनकी साध्य भक्ति प्रेमविह्वला स्वरूप की नहीं है । प्रेम अन्तर्निहित है जबकि श्री निम्बार्क तथा वल्लभ के सिद्धान्त में इसका स्पष्ट प्राकट्य है । वास्तव में भक्ति का भेद भी तो उसका स्वरूप ही है । जिस प्रकार श्री रामानुज एवं आचार्य मध्व दोनों उपसानात्मिका तथा ज्ञानात्मिका भक्ति के स्वरूप को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार का विवेचन भक्ति के साधन एवं साध्य पक्ष में भी दृष्टिगोचर होता है तथा श्री निम्बार्क एवं आचार्य वल्लभ की भक्ति प्रधान रूप से प्रेमात्मिका है अतएव भक्ति के दोनों पक्षों के विवेचन सूक्ष्म मे प्रेम ही

अधिक व्यंग्य है । यही इनका अत्यन्त स्थूल सा पारस्परिक भेद परिलक्षित होता है ।

भक्ति एवं बाह्याचार-

चूँकि समस्त वैष्णव आचार्य भक्ति के साधन एवं साध्य दोनों पक्षों की व्याख्या करते हैं इसलिए भक्ति के साधन पक्ष में बाह्याचारों का समावेश स्वयमेव हो जाता है । जैसा कि श्री रामानुज स्पष्ट रूप से वैष्णवों के लिए षोडश उपचारों का विधान करते हैं जिसके अन्तर्गत [सख्य के अतिरिक्त] आठ का ग्रहण नवधा भक्ति से किया गया है तथा शेष आठ निम्नलिखित हैं:- शरीर पर हरि के आयुधों मन्त्रजाप का अंकन, ललाट पर लम्बी रेखा का अंकन, समयानुसार मन्त्रजाप, हरि के चरणामृत का पान, प्रसाद ग्रहण, हरि भक्तों की सेवा, प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की एकादशी का व्रत रखना तथा हरि की प्रतिमा पर तुलसी पत्र चढ़ाना । आचार्य रामानुज के समान ही मध्व भी सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए वैष्णव चिह्नों से शरीर का अंकन अपने पुत्र तथा अन्य परिजनों को प्रभुवाचक नाम देना और श्री विष्णु की अर्चना करना, मन वचन तथा कर्म से भगवत्परायण होने के महत्त्व को स्वीकार करते हैं । श्री निम्बार्क ने ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र तथा याग नामक पाँच संस्कारों को ऐकान्तिक हितोपासना के लिए आवश्यक रूप से स्वीकार किया है तथा आचार्य वल्लभ शरणमन्त्रोपदेश तथा आत्मनिवेदन इन दोनों संस्कारों से युक्त व्यक्ति को ही भक्ति का अधिकारी माना है । इस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या से हम ये सहज ही सिद्ध कर सकते हैं कि चारों वैष्णव आचार्यों ने अपने-अपने ढंग के बाह्य अभिचारों को भक्ति में पर्याप्त स्थान दिया है । सच तो यह है कि ये बाह्य अभिचार वास्तव में भक्ति की पूर्वापेक्षा हैं ।

भक्ति, ज्ञान तथा कर्म समन्वय-

वैष्णव आचार्य मूल रूप से ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करने वाले आचार्य हैं अतएव ये ईश्वर की पूजा, उपासना एवं उनके प्रति अश्लाघ्य प्रेम की स्थापना को ही भक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हैं तथा इस रूप की भक्ति को ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन प्रतिपादित करते हैं किन्तु इन सभी आचार्य ने ज्ञान व कर्म की उपेक्षा की हो ऐसा नहीं है । क्योंकि भक्ति एक ऐसा मार्ग है जिसमें ज्ञान व कर्म भी साधन रूप से समाहित रहते हैं । ये वैष्णव आचार्य शंकर की भाँति न तो एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं न ही आचार्य जैमिनी के समान केवल कर्मकाण्ड को ही प्राथमिकता देते हैं । वरन् भक्ति मार्ग की सर्वश्रेष्ठता को प्रतिपादित करके ये ज्ञान व कर्म को भी उनका अपेक्षित स्थान प्रदान करते हैं । क्योंकि मनुष्य जब तक इस स्थूल शरीर से सम्बद्ध है वह कर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता । इतना अवश्य है कि आत्मा के विकास के लिए पुण्य तथा शुभ कर्मों का ही सम्पादन करना चाहिए । आचार्य रामानुज ने इसी लिए षोड्श उपचारों का विधान किया है तथा मध्व, निम्बार्क एवं वल्लभ सभी ने कर्म के महत्त्व को स्वीकार किया है । वास्तव भक्ति मार्ग एक ऐसा मार्ग है जो अत्यधिक समन्वयवादी दृष्टिकोण रखता है । यही कारण है कि इन वैष्णव भक्तों के आन्दोलन से सामान्य जन को अत्यधिक प्रेरणा मिली तथा शंकर के शुष्क ज्ञान मार्ग के कठोर पथ की अपेक्षा लोगों ने रसमयी भक्ति के मार्ग को स्वीकार करना अधिक उपयुक्त समझा ।

ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के इस समन्वय में इन चारों आचार्यों में कुछ अन्तर अवश्य है जिसे रेखांकित करने का प्रयास किया जा रहा है । जैसे हमारे सर्वप्रथम आचार्य रामानुज कर्म को प्रारम्भिक अवस्था में स्वीकार करते हैं तथा ज्ञानपूर्वक की गई उपासना को ही मोक्ष का अन्यतम साधन स्वीकार करते हैं । अर्थात् इनके सिद्धान्त में एक मार्ग तो ज्ञानियों की भक्ति का है वहीं तो दूसरा

मार्ग प्रपत्ति का है जिसमें अनन्य शरणागति की बात कही गई है । फिर भी ज्ञान का इनके सिद्धान्त में पर्याप्त स्थान है क्योंकि इनका सिद्धान्त सेवकसेव्य भाव को लेकर ही प्रवर्तित होता है । इसीलिए दास्यभाव की ज्ञानात्मक उपासना में ज्ञान और भक्ति परस्पर अत्यन्त सुन्दर समीकरण किया गया । आचार्य मध्व रामानुज के अत्यन्त निकट हैं क्योंकि इन्होंने ईश्वर के महात्म्य ज्ञान एवं उससे उत्पन्न प्रेम प्रवाह को ही भक्ति कहा है । इस प्रकार ये ज्ञान को ही कहीं कहीं स्पष्ट रूप से भक्ति भी कह देते हैं । क्योंकि मध्व प्रेम को अत्यन्त संयत रूप में स्वीकार करते हैं अतः इनके यहाँ ज्ञानी भक्त की अधिक महत्ता प्रतिपादित की गई है । परवर्ती आचार्य निम्बार्क एवं वल्लभ ज्ञान व कर्म को महत्त्व तो देते हैं किन्तु इनके अनुसार केवल अनन्य प्रेम रूप भक्ति ही साक्षात् मोक्ष साधनिका है । भले ही वल्लभ मर्यादा मार्ग में कर्म व ज्ञान का समावेश करते हैं लेकिन जीव के लिए श्रेष्ठ तथा सर्वोच्च साध्य प्रेम रूप निष्काम या निर्गुण भक्ति योग ही है । इसका वे अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करते हैं । ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान तो स्पष्ट रूप से भक्ति का अपेक्षित तत्त्व है लेकिन इन्होंने सरल प्रेम भक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया है । वल्लभ ने जो सर्वात्मभाव की स्थिति बतायी है उसमें ज्ञान व कर्म का कोई अवकाश ही नहीं है । जबकि मध्व प्रत्येक स्थिति में जीव के ज्ञान को बराबर महत्त्व देते हैं वे चाहे साध्य भक्ति की अवस्था हो या साधन भक्ति की । इसीलिए हम प्रथम दो आचार्यों को एक कोटि में रख सकते हैं । क्योंकि इनकी भक्ति में ज्ञान एवं कर्म सहकारी है जबकि निम्बार्क एवं वल्लभ प्रारम्भिक अवस्था में तो ज्ञान की स्थिति को स्वीकार करते हैं लेकिन चरमावस्था विशुद्ध प्रेममयी भक्ति ही मोक्ष साधनिका है । यही पारस्परिक अन्तर ज्ञान कर्म भक्ति समुच्चय के संदर्भ में दिया जा सकता है । अधिक सूक्ष्म विवेचन करें तो वास्तव में

भक्ति के अंगस्वरूप ही अतः जब इनमें विभाजन ही नहीं तो उसे भक्ति में समाहित करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है । जब भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था होती है तो हमें ये तीनों पृथक-पृथक परिलक्षित होते हैं जबकि भक्ति की चरमावस्था तो जीव केवल भगवन्मय हो जाता है । ऐसी अवस्था में कर्म, ज्ञान या भक्ति का कोई निजी स्वरूप ही शेष नहीं रहता है । इसी धारणा की सिद्धि इस समस्त विवेचन का उद्देश्य है ।

भक्ति और साध्य-

दर्शन में जीव के साध्य के रूप में मोक्ष की ही प्रतिष्ठा की गई है । मार्ग कोई भी हो कर्म, ज्ञान या भक्ति किन्तु लक्ष्य एक ही है मुक्ति । किन्तु वैष्णव आचार्यों की एक यह अपनी विशेषता है कि वे भक्ति को ही साध्य के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं जैसा कि रामानुज, मध्व, निम्बार्क या वल्लभ सभी साध्य भक्ति की चर्चा करते हुये स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि यह साध्य भक्ति ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है । वल्लभ ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति नित्य निरतिशय आनन्द से युक्त होने के कारण स्वयं पुरुषार्थरूपा है । जीव का सर्वोच्च साध्य है । आचार्य मध्व भी कहते हैं कि सनक इत्यादि भक्तों ने सभी प्रकार की मुक्तियों का त्याग करके भक्तिपूर्ण समर्पण के द्वारा प्राप्त सुख को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया:-

" नैकात्म्यतां मे स्पृहयन्ति केचित् एकत्त्वमाप्युत ।"

इन सभी विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है क्योंकि जिस जीव को ईश्वर की भक्ति प्राप्त हो गई उसे सर्वत्र सर्वदा सुख या आनन्द का अनुभव होता रहता है और मोक्ष भी तो आनन्दपूर्वक ईश्वर के सान्निध्य में रहते हुये सम्पूर्ण ऐश्वर्य का भोग ही है ।

भक्त को सर्वत्र ईश्वर के दर्शन होते रहते हैं तथा वह अपने भौतिक तापों को भक्ति से प्राप्त आनन्द के समक्ष अत्यन्त नगण्य समझता है ।

भक्ति इसलिए भी मुक्ति से अधिक श्रेष्ठ है तथा जीव का अन्तिम साध्य है क्योंकि वैष्णव आचार्य जीव ब्रह्मैक्य रूप की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते है । जीव मोक्ष दशा में भी अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखता है तथा उसका ईश्वर से स्वामीसेवक का सम्बन्ध उस स्थिति में भी वैसा ही बना रहता है जैसा कि संसारदशा में । इसलिए मोक्ष में भी भक्ति की प्रक्रिया वैसे ही बनी रहती है । मुक्त दशा में की जाने वाली भक्ति का साक्षात् उदाहरण ये है कि समस्त सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी सदैव विष्णु की भक्ति में लीन रहती हैं तो साधारण जीव की तो बात ही क्या है ? यदि एक क्षण के लिए भी जीव को मुक्ति का अभिमान हो जाय तो वह तत्काल पुनः जीवन-मृत्यु के कालचक्र में फँस जायेगा । अतएव वैष्णव परंपरा में मुक्ति के अवस्था में भी भक्ति के लिए स्थान है । यही कारण है कि वैष्णव आचार्यों के दृष्टिकोण में भक्ति ही जीव का सर्वोच्च साध्य है वह चाहे संसारदशा में हो या मुक्त्यावस्था में ।

" हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी ।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः ।।"

भगवान ने स्वयं कहा है कि " अहं भक्तपराधीनः ।" इसलिए जब स्वयं ईश्वर भक्त के अधीन हो जाते है तो ऐसी भक्ति को हमारे वैष्णव आचार्य अन्तिम साध्य के रूप मे क्यों न प्रतिष्ठापित करें ? इसलिए भक्ति ही जीव का साध्य है ।

निष्कर्ष-

वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त में अनेक समानताएँ हैं क्योंकि इन सबका मनोविज्ञान लगभग एक जैसा है । ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार करने के कारण इन सभी आचार्यों ने भक्ति को ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है । इनके अनुसार ईश्वर ही जीव का स्वामी है तथा एकमात्र जगन्नियन्ता है किन्तु कहीं

कहीं पर इन आचार्यों के सिद्धान्तों में मतभेद भी है । जैसे रामानुज, निम्बार्क तथा वल्लभ तीनों ही ईश्वर को जगत् का निमित्त व उपादान दोनों ही प्रकार का कारण स्वीकार करते हैं जबकि मध्व ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानते हैं । उनके अनुसार उपादान कारण तो प्रकृति है । इसी प्रकार रामानुज के अनुसार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ जिसका अर्थ है कि ब्रह्म जीव तथा जगत् से विशेषित एकमात्र अद्वैत सत्ता है । रामानुज जीव और जगत् को ब्रह्म का विशेषण मानते हैं । मध्व द्वैतवाद की प्रतिष्ठाकरते है । ये ईश्वर तथा जीव, जगत् में भेद स्वीकार करते हैं इसी से इनका सिद्धान्त भेदवाद भी कहलाता है । निम्बार्क भेदाभेद का सिद्धान्त स्थापित करते है । इनके अनुसार चिदचित् ईश्वर से भिन्न भी है तथा अभिन्न भी । ईश्वर से भिन्न इसलिए है क्योंकि वह स्वरूप तथा गुण में ईश्वर से भिन्न है तथा अभिन्नता का कारण यह है कि उसकी अपनी पृथक सत्ता नहीं है । वल्लभ शुद्धाद्वैत को मानते हैं । वे जीव जगत को ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम मानते हैं इस प्रकार विशुद्ध अद्वैत तत्व को स्वीकार करते हैं ।

भक्ति के सिद्धान्त में भगवत्कृपा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विषय है । सभी आचार्यों ने ईश्वर की कृपा के बिना भक्ति की कल्पना को भी असंभव माना है । श्री रामानुज व मध्व भगवत्कृपा में जीव पुरूषार्थ के लिए अवकाश रखते हैं लेकिन श्री वल्लभ ने पुष्टिमार्ग में जीव प्रयत्न की किसी प्रकार की भूमिका स्वीकार नहीं की । भगवत्कृपा से प्राप्त होने वाली भक्ति का स्वरूप भी इन आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोण से ग्रहण किया है । रामानुज उपासना प्रधान भक्ति को मानते हैं इसमें ज्ञान पर बल है जबकि मध्व ज्ञानमिश्रा भक्ति की स्थापना करते है कहीं कहीं पर उन्होंने भक्ति व ज्ञान को एक दूसरे का पर्यायवाची बताया है । निम्बार्क ने प्रेमात्मिका भक्तिको श्रेष्ठ सिद्ध किया है । जबकि वल्लभ ने मानसी सेवा को ही भक्ति का स्वरूप माना है ।

भक्ति के घटक तत्वों के विषय में भी आचार्यों के मत में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है मध्व ने महात्म्य ज्ञान को भक्ति का अंग माना है । रामानुज भी ज्ञानपूर्विका भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते है । निम्बार्क ने ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व दिया है । वल्लभ ने पुष्टि मार्ग में तो ज्ञान का कोई स्थान नहीं दिया है तथापि ज्ञान के महत्त्व की स्थापना के लिए मर्यादामार्ग की व्यवस्था की है ।

प्रेम तो भक्ति का प्राणतत्व है । रामानुज ने प्रेम का बहुत ही संयमित रूप भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया है । मध्व प्रेम को भक्ति का अंग मानते है । निम्बार्क भी प्रेमाभक्ति को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं । वल्लभ ने भी भावप्रवण भक्ति को श्रेष्ठ भक्ति कहा है । इस तरह से चारों आचार्य प्रेम को अलग-अलग रूप में भक्ति का अनिवार्य अंग मानते हैं ।

शरणागति व सेवा की यही स्थिति है । रामानुज शरणागति का माहात्म्य दिखलाते हुये प्रपत्ति मार्ग की स्थापना करते हैं । वल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति का अधिकार पाने के लिए आत्मनिवेदन पूर्वक पूर्ण शरणागति संस्कार अपेक्षित है । मध्व व निम्बार्क शरणागति की अधिक व्याख्या नहीं करते हैं लेकिन भक्ति का घटक तत्व होने के कारण इनका महत्त्व सभी आचार्य स्वीकार करते है । ईश्वर स्वामी एवं जीव दास है । इसलिए ईश्वर की तनुजा, वित्तजा और मानसी सेवा ही भक्ति पद का अर्थ है । वल्लभ मानसी सेवा को ही श्रेष्ठ मानते हैं ।

हमारे सभी आचार्य साधन व साध्य दोनों प्रकार की भक्ति को मान्यता देते हैं तथा इनके सिद्धान्त में दोनों का अलग-अलग विवेचन किया गया है । साधन भक्ति के अनुष्ठान से आत्मा का संस्कार होता है तथा जनसाधारण के लिए साध्य भक्ति कठिन होने के कारण साधन भक्ति ही भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में सहायक होती है । नवधा भक्ति भी साधन भक्ति के अन्तर्भूत है ।

मध्व एवं वल्लभ ने साध्य भक्ति को निष्काम भक्ति की संज्ञा दी । सभी आचार्य साध्य भक्तिको ही उत्तम मानते हैं क्योंकि ये साध्य भक्ति स्वयं लक्ष्यरूपा है अर्थात् इसकी प्राप्ति के अनन्तर अन्य किसी फल की कामना शेष नहीं रहती है ।

भक्ति में बाह्याचारों का भी समावेश है । रामानुज वैष्णवों के लिएषोडश उपचारों का विधान करते हैं । मध्व भी वैष्णव चिह्नों से शरीर को चिह्नित करना आदि कई बाह्याचारों को भक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं । निम्बार्क, ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग इन पाँच संस्कारों को मान्यता देते हैं तथा वल्लभ सम्प्रदाय में शरणमन्त्रोपदेश तथा आत्मनिवेदनपूर्वक भक्ति की ही व्यवस्था है ।

भक्ति ज्ञान तथा कर्म ये तीनों ऐसे साधन जो अन्योन्याश्रित होकर ही फलदायी है । यद्यपि भक्ति की श्रेष्ठता दिखाने के लिए आचार्य क्रम में भक्ति को अन्तिम साधन स्वीकार करते हैं तथापि सभी ने ज्ञान व कर्म को भी अपना स्थान दिया । मध्व तो ज्ञान व भक्ति का मिश्रित स्वरूप निर्धारित करते हैं । वल्लभ ने पुष्टिमार्ग केवल एकमात्र भक्ति को ही साधन माना है लेकिन उन्होंने ज्ञान व कर्म को उचित स्थान दिलाने के लिए मर्यादा व प्रवाह मार्ग की भी व्यवस्था की है । क्योंकि सभी व्यक्ति "पुष्टि" के अधिकारी नहीं हो सकते है । निम्बार्क भी कर्म व ज्ञान से शुद्ध हुये आत्मा में प्रवाहित होने वाली रसमयी प्रेमाभक्ति को ही वास्तविक भक्ति मानते हैं । रामानुज भी ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ मानते हैं तथा ध्यान के लिए साधनसप्तक के अनुष्ठान का विधान करते हैं ।

वैष्णव आचार्यों की अपनी यह विशेषता है कि वे भक्ति को साधन व साध्य दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं । भक्ति के व्दारा भक्ति की ही

कामना इन आचार्यों को अभीष्ट है । क्योंकि इनके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म सम्बन्ध सेवक स्वामी भाव का ही रहता है । इसलिए-

" हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी ।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा मतः ।"

उपसंहार

उपसंहार

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है । अतएव वह अपने जन्म-मृत्यु, जीवन के भोगों के विषय में विचार करने को विवश हो जाता है । इस संसार के नियन्ता के विषय में हमारे अनेक प्राचीन ग्रन्थों एवं आज भी विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से मानव की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास किया । जीवन-मृत्यु को एक बंधन का नाम दिया है तथा इस बंधन से मुक्ति के अनेक उपायों का निर्देश किया गया है । मुक्ति के अनेक अर्थ लिये गये हैं । किन्तु सभी का तात्पर्य ईश्वरानुभूति या ईश्वर सामीप्य से ही है । परम सत्य को ही ईश्वर, भगवान इत्यादि संज्ञाएँ दी गई हैं । इस मुक्ति को प्राप्त करने के अनेक उपाय बतलाये गये है जिसमें कर्म, ज्ञान तथा भक्ति प्रमुख है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय पंद्रहवीं शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा होने के कारण इसमें भक्ति की ही विस्तृत व्याख्या है । चूँकि भक्ति कर्म ज्ञान सापेक्ष्य है इसलिए भक्ति के साथ-साथ ज्ञान,कर्म की स्थिति पर भी विचार किया गया है ।

हमारे भारतीय चिन्तन परम्परा में वेदों को सबसे प्राचीन व प्रामाणिक स्वीकार किया गया है । अतएव सर्वप्रथम वेदों में भक्ति की क्या अवधारणा है इस पर विचार किया गया है । वेदों में भक्ति को स्तुतिपरक माना गया है । इसीलिए ऋषियों ने विष्णुसूक्त इत्यादि सूक्तों में अलग-अलग देवताओं की स्तुति ही की है ।वेदों में भक्ति का सम्बन्धपरक स्वरूप वर्णित है जैसे "त्वं हि नो पिता-------।इत्यादि । वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति की परिभाषा प्रत्यक्ष रूप में नहीं मिलती है । एतरेय ब्राह्मण में ओंकार जप के विधान को शब्द-भक्ति कहा गया है । इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के

विधान को भक्ति का अंग माना गया है । उपनिषदों में भक्ति-तत्त्व बीज रूप में ही दिखाई पड़ता है जिसका पल्लवन परवर्ती साहित्यों में हुआ है । नारद व शांडिल्य ने भक्ति सूत्रों की रचना कर भक्ति की विस्तृत व्याख्या की । नारद के अनुसार भक्ति प्रेमरूपा है "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा" और यही भक्ति अमृत स्वरूपा भी है । नारद ने गोपिकाओं की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है । शांडिल्य ने भी ईश्वर में अत्यधिक प्रेम को ही भक्ति की संज्ञा दी "सा परानुरक्तिरीश्वरे" । गीता में श्रीकृष्ण ने अनन्यभाव से ईश्वर के स्मरण को भक्ति कहा है " अनन्यचेताः सततं ---------- । पुराणों में भक्ति के बीज का पल्लवन हुआ । चैतन्य का गौड़ीय मत वल्लभ का पुष्टिमार्ग तथा हित हरिवंश का राधावल्लभी मत ये सभी मुख्यतः भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराणों में प्रतिपादित भक्ति-पद्धति और राधाकृष्ण के स्वरूप को लेकर अग्रसर हुये हैं । भागवत पुराण में ही साधनरूपा नवधा भक्ति के समस्त अंगों, प्रेमरूपा निष्काम भक्ति का उदाहरण सहित सुन्दर वर्णन किया गया है । ईसा के लगभग तीसरी शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक पाञ्चरात्रिकों ने भक्ति आन्दोलन को गतिशील रखा । इसके बाद छठीं शताब्दी से आलवार सन्तों के व्दारा भक्ति का उत्थान प्रारम्भ हुआ । इन्होंने वैदिक भक्ति को सुधार कर सरल रूप में भक्तों के समक्ष प्रस्तुत किया । नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास भक्ति-आन्दोलन का इतिहास है । इस युग के आचार्य वैष्णव आचार्य कहलाये । रामानुज, मध्व, निम्बार्क एवं वल्लभ ये चार आचार्य ही वैष्णव आचार्य कहलाते हैं । चैतन्य महाप्रभु भी वल्लभ के समकालीन हैं तथा उनके व्यक्तित्व में भक्ति की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है लेकिन अपने विचारों को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत न करने के कारण उन्हें आचार्य कोटि में नहीं रखा जाता है । इसीलिए रामानुज,

मध्व, निम्बार्क एवं वल्लभ ये चार आचार्य ही वैष्णव आचार्य कहलाते हैं । चैतन्य महाप्रभु भी वल्लभ के समकालीन हैं तथा उनके व्यक्तित्व में भक्ति की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है लेकिन अपने विचारों को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत न करने के कारण उन्हें आचार्य कोटि में नहीं रखा जाता है । इसीलिए रामानुज, मध्व, निम्बार्क एवं वल्लभ इन चार वैष्णव आचार्यों की भक्ति विषयक संधारणा का विवेचन अभीष्ट है ।

आचार्य रामानुज का जन्म 1017 ई0 में तथा मृत्यु 1137 ई0 में हुई । आचार्यों में सबसे अधिक जीवन काल इन्हीं का है तथा यही वैष्णव आचार्यों में प्रथम आचार्य माने गये हैं । इनका सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है । इनके सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त कहा जाता है । रामानुज ने तीन नित्य तत्वों की सत्ता स्वीकार की है (1) ईश्वर (2) चित् (3) अचित् । ये चित् और अचित् को ईश्वर का स्वगत भेद मानते हैं तथा ईश्वर को चिदचित् से विशिष्ट मानने के कारण इनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है । इन्होंने ईश्वर तथा चिदचित् के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या चार प्रकार से की है (1) शरीरशरीरीभाव (2) प्रकारप्रकारीभाव (3) अंशांशिभाव (4) विशेषणविशेष्यभाव । आचार्य रामानुज ब्रह्म को सगुण मानते हैं । तथा इनके अनुसार निर्गुण का तात्पर्य ईश्वर का प्राकृत व हेय गुणों से रहित होना ही है । वे ब्रह्म व ईश्वर में कोई भेद नहीं मानते हैं । रामानुज ही नहीं समस्त वैष्णव आचार्य ईश्वर को सगुण तथा ब्रह्म से अपृथक ही स्वीकार करते हैं । जबकि शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण तथा ब्रह्म व ईश्वर में भेद माना है । उनके अनुसार ब्रह्म विशुद्ध, निर्गुण है जबकि ब्रह्म का ही मायोपहित स्वरूप ईश्वर है । जबकि वैष्णव परंपरा में उनके इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन हुआ है । रामानुज के अनुसार वस्तुतः कर्म ही जीव के बंधन के कारण है । ईश्वर की भक्ति के द्वारा ही इस कर्म रूपी बन्धन का नाश संभव है । भक्ति के साथ-

साथ कर्म व ज्ञान के महत्त्व को भी इन्होंने स्वीकार किया है । रामानुज के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी कर्म व ज्ञान के साथ भक्ति को मुक्ति का साधन माना है लेकिन सभी के सिद्धान्त में तीनों की सापेक्ष्य स्थिति भिन्न-भिन्न ही है । वैष्णव भक्त होने के कारण इन्होंने भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है लेकिन वे इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सके कि भक्ति कर्म ज्ञान सापेक्ष्य रूप में ही अभीष्ट की प्राप्ति करा सकती है । क्योंकि कर्म व ज्ञान से व्यक्ति की आत्मा का संस्कार होता है । इसीलिए रामानुज ने विवेकादि साधनसप्तक का अनुष्ठान भक्ति से पूर्व आवश्यक माना है । कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के प्रति आसक्त हुये बिना समस्त कर्मों, विधियों, वर्णाश्रम धर्मों, संस्कारों का सम्पादन करना ही इनके अनुसार कर्मयोग है । कर्म की तरह ज्ञान भी आवश्यक है । जिस प्रकार कर्म योग ज्ञानयोग की तरफ ले जाता है उसी प्रकार ज्ञानयोग भक्तियोग की तरफ ले जाता है । आचार्य रामानुज ने भक्ति को स्मरण, ध्यान, उपासना, वेदन इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया है । इन्होंने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को भी ध्यान का ही एक प्रकार माना है । तैलधारा की भाँति अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति परंपरा ही ध्यान है । इसी स्मृति को चिन्तन या वेदन भी कहा है । इस प्रकार के साधन भक्ति का स्वरूप बताकर आचार्य साध्य भक्ति की भी चर्चा करते हैं । उपासना को ही इन्होंने साध्य भक्ति माना है । इसमें साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है । रामानुज के व्दारा स्थापित प्रपत्ति मार्ग का उल्लेख किये बिना उनके सिद्धान्त का विश्लेषण सम्पूर्ण नहीं होगा । भगवान के चरणों में आत्म समर्पण करना ही प्रपत्ति प्रपत्ति के तीन आकार या विशेषण है ॥1॥ अनन्य शेषत्व ॥2॥ अनन्य साधनत्व ॥3॥ अनन्य भोग्यत्व । प्रपत्ति के अनुष्ठान से भगवत्कृपा सम्पादित होती है

तथा इसी भगवत्कृपा से भगवान की प्राप्ति होती है । आगे चलकर रामानुज के प्रपत्ति विषयक सिद्धान्त के अनुयायियों की दो शाखाएँ विभाजित हो गईं §1§ तिड़•लैमत §2§ बड्कलैमत । तिड़•लैमत वाले शरणागति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के जीव प्रयास को मुक्ति में सहायक नहीं मानते हैं तथा अपने सिद्धान्त के समर्थन में मार्जार-किशोर-न्याय का उदाहरण देते हैं । जबकि बड्कलैमत वाले कपि-किशोर-न्याय का उदाहरण देकर शरणागति के साथ-साथ जीव प्रयत्न की भी अपेक्षा रखते हैं । यही इनके बीच मुख्य मतभेद है ।

रामानुज को अभिमत भक्ति के साधन व साध्य दोनों भेदों तथा प्रपत्ति मार्ग की चर्चा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इन्होंने ज्ञानमिश्रा भक्ति के स्वरूप को स्वीकार किया है । क्योंकि इन्होंने ध्यान को ही भक्ति का स्वरूप माना है । इसीलिए तो इन्होंने प्रपत्ति मार्ग की पृथक रूप से स्थापना की । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी भक्त नहीं हो सकता है । भक्ति को सरल बनाने के लिए ही प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की गई ।

रामानुज के बाद मध्वाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य माने गये हैं । इनका जीवन काल 1238 ई0 से 1317 ई0 तक माना गया है । शंकराचार्य के अद्वैत एवं रामानज के विशिष्टाद्वैत के विरोध में इन्होंने पाँच प्रकार के नित्य भेदों को स्वीकार किया है ।

§1§ ईश्वर एवं जीवात्मा का भेद ।

§2§ ईश्वर का जड़ जगत §प्रकृति§ से भेद ।

§3§ जीवात्मा तथा प्रकृति का भेद ।

§4§ एक जीव का दूसरे जीव से भेद ।

§5§ एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद ।

इन पञ्चविध भेदों को स्वीकार करने के कारण ही इनका सिद्धान्त भेदवादी कहलाता है । परमात्मा एवं जीव में भेद स्वीकार करने से ही इनका मत

द्वैतवाद के नाम से प्रचलित है । आचार्य मध्व ने समस्त पदार्थों को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव इन दस श्रेणियों में विभक्त कर दिया है । परमात्मा एवं जीव तथा प्रकृति सभी द्रव्य ही हैं । द्वैतमत में मान्य सिद्धान्तों को श्री व्यास व्यासराजस्वामी ने एक श्लोक में समझाने का प्रयास किया है :-

" श्रीमन्मध्वमते हरि: परतर: सत्यं जगत् तत्वतो ।
भेदा जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गता: ।।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं ।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेधो हरि: ।।"

अर्थात् श्री विष्णु ही सर्वोच्च सत्य है । जगत सत्य है । पाँचो भेद वास्तविक हैं । समस्त जीवगण हरि के अनुचर हैं । सांसारिक तथा मोक्ष दोनों ही अवस्था में जीवों में तारतम्य है । जीव का अपने स्वरूपानन्द की अनुभूति ही मुक्ति है । अहैतुकी भक्ति ही उच्चतम उपाय है । प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द ये ही तीन प्रमाण है । भगवान श्रीनारायण ही वेदों के प्रतिपाद्य है । मध्व ने परमात्मा को साक्षात् विष्णु माना है । एकमात्र ब्रह्म की ही स्वतन्त्र सत्ता है । मध्व ने भी ईश्वर के सगुण, सविशेष, साकार स्वरूप को ही स्वीकार किया है । आचार्य मध्व ने ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण माना है इनके अनुसार उपादान कारण प्रकृति है । क्योंकि सर्वोपरि ज्ञान सम्पन्न ईश्वर से जड़ जगत की उत्पत्ति असम्भव है । जबकि रामानुज ईश्वर को जगत का निमित्तोपादान कारणमाना है । लक्ष्मी भगवान की कार्यकरणात्मिका शक्ति हैं । ये ईश्वर के अधीन हैं । ये निरन्तर ईश्वर की उपासना करती रहती हैं । जीव नित्य व अणु है । नित्य होने के कारण ही जीव की परमात्मा से औपाधिक उत्पत्ति मानते हैं । मध्व ने ब्रह्म-जीव सम्बन्ध को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के रूप में माना है । नित्यसहवर्तित्व के कारण ही ब्रह्म जीव सम्बन्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का माना जाता है । इन्होंने जीवात्माओं के बन्धन का प्रारम्भ ईश्वर की उस

शक्ति के कारण माना है जिससे जीव का वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है तथा जीव को अपने तथा ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान भी नहीं रह जाता है। सृष्टि में आने पर प्राकृतिक बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि के साथ होने वाला जीव का अनादि सुदृढ़ एकात्मभाव ही उसके बन्धन का कारण है। यह अज्ञान ईश्वर की इच्छा से ही दूर होता है। मध्व भी कर्म ज्ञान व भक्ति तीनों को मोक्ष के लिए आवश्यक स्वीकार करते हैं। इन्होंने भक्ति व ज्ञान का मिला जुला रूप प्रस्तुत किया है। भक्ति व ज्ञान से पहले कर्मों का सम्पादन भी आवश्यक है। सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए वैष्णव चिह्नों से शरीर को चिन्हित करना, अपने पुत्रों तथा अन्य परिजनों को प्रभुवाचक नाम देना, श्री विष्णु की अर्चना करना तथा मन, वचन, कर्म से भगवत्परायण होना आवश्यक है। मध्व के अनुसार भक्ति उसी प्रकार से ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिस प्रकार ज्ञान की यात्रा भक्ति के बिना असम्भव है। मध्व ने ईश्वर के प्रति अत्यधिक स्नेह तथा ईश्वर की महानता तथा भव्यता की स्पष्ट समझ को ही भक्ति माना है। दूसरे शब्दों में स्नेहपूर्वक की गई महत्व बुद्धि को ही भक्ति कहते हैं। भगवत्कृपा, महात्म्यज्ञान, प्रेम, गुरू-आश्रय आदि भक्ति के आपेक्षिक तत्व है। ज्ञान को इन्होंने भक्ति का घटक तत्त्व माना है। वास्तविक भक्ति ज्ञान व प्रेम का समन्वित रूप है। शास्त्रों में जहाँ कहीं ज्ञान को मुक्ति का साधन कहा गया है वहाँ ज्ञान में ही प्रेम का अन्तर्भाव मानना चाहिए। ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान के उपरान्त प्रकट होने वाली अतिपरिपक्व भक्ति ही साध्य भक्ति है। इस साध्य भक्ति के कारण हम मोक्ष की स्थिति में सर्वदा आनन्द का अनुभव करते रहते हैं। साध्य भक्ति स्वयं ही लक्ष्य है।

मध्व के बाद हमारे तृतीय आचार्य श्री निम्बार्क हैं। इनके जीवन का काल के विषय में अनेक मतभेद है। वैसे नवीन गवेषक इनका समय 12हवीं शती या उसके भी पीछे मानते हैं। ये ब्रह्म तथा जीव के मध्य भेदाभेद या व्दैताव्दैत

सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं । कर्म संस्कारों के अधीन रह कर जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है । भगवद्भक्ति के व्दारा अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर जीव ब्रह्म के समान ही प्रकाशवान् होकर उससे अभिन्न हो जाता है । ब्रह्म व जीव का विभाग भी समुद्र व समुद्र तरंग के समान है । श्री निम्बार्क ने ब्रह्म का स्वरूप चतुष्पाद स्वीकार किया है । §1§ अक्षर §2§ ईश्वर §3§ जीव §4§ जगत । निम्बार्क ने श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर ब्रह्म माना है । श्रीकृष्ण की अह्लादिनी शक्ति श्री राधा हैं । ईश्वर ही जगत का निमित्त व उपादान कारण है । श्रीकृष्ण व राधा की युगल उपासना ही मोक्षदायक है । जीव ईश्वर का शक्ति रूप होने के कारण उनका अंश माना गया है । जीव ज्ञान स्वरूप है । निम्बार्क ईश्वर जीव और जगत के सम्बन्ध को भेदाभेद की संज्ञा देते हैं । ईश्वर की निग्रह शक्ति के कारण जीव में गुणों का तिरोधान हो जाता है यही जीव का बंधन है । ईश्वर की अनुग्रह शक्ति से ही इस बंधन का नाश होता है । भक्ति के प्रभाव से ही इस अनुग्रह शक्ति का प्राकट्य होता है ।

भक्ति के साथ-साथ आचार्य ने अनासक्त कर्मानिष्ठान की प्रधानता को स्वीकार किया है । निम्बार्क ने भक्ति के दोनों भेदों को स्वीकार करते हुये प्रेमरूपा भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है । इस प्रकार ये नारद व शांडिल्य के अधिक निकट हैं । इन्होंने भक्ति को उपासना न मानकर प्रेम व श्रद्धा कहा है । मोक्ष की प्राप्ति को गुरु-आश्रय अत्यधिक आवश्यक है । निम्बार्क ने श्रीराधा को ही परमाचार्या माना है । जीव के दैन्यभाव तथा भगवत्कृपा से प्रेम भक्ति की प्राप्ति होती है आचार्य ने अन्तःशौच के विधायक पाँच संस्कारों को बहुत महत्त्व दिया §1§ ताप §2§ पुण्ड्र §3§ नाम §4§ मंत्र और याग । रागात्मिका भक्ति रसमय है । इन्होंने रागात्मिका भक्ति में दास्य, वात्सल्य, सख्य, माधुर्य इन चार रसों को ही स्वीकार किया है ।

श्रीकृष्ण में अनन्य प्रेम ही इनकी भक्ति का स्वरूप है ।

हमारे अन्तिम आचार्य श्रीवल्लभ हैं । इनका जीवन काल 1535 संवत् से लेकर 1587 वि.सं. तक माना गया है । दार्शनिक जगत में श्रीवल्लभ का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से जाना जाता है । वल्लभ ने माया से अलिप्त, माया सम्बन्ध से विरहित अतएव नितान्त शुद्ध ब्रह्म की व्याख्या की है इसी से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाया । इस सिद्धान्त के दो अन्य नाम भी प्रसिद्ध है §1§ ब्रह्मवाद §2§ अविकृत परिणामवाद । सब कुछ ब्रह्मरूप समझना ही ब्रह्मवाद है । जगत ब्रह्म का अविकृत परिणाम है जैसे सुवर्ण से कटक कुण्डलादि का परिणाम । यही अविकृत परिणामवाद है । वल्लभ हमारे ऐसे आचार्य हैं जो प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रस्थानचतुष्टय की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार श्रुति, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता के साथ-साथ श्रीमद्भागवतपुराण भी प्रमाण है । वल्लभ अद्वैत परब्रह्म को ही श्रीकृष्ण मानते हैं । परब्रह्म में विरुद्धधर्माश्रयता है । वे सगुण हैं क्योंकि उनमें दिव्य गुणों का समावेश है । वल्लभाचार्य ने परमतत्त्व परब्रह्म के तीन रूप स्वीकार किये हैं §1§ पुरुषोत्तम ब्रह्म §2§ अक्षर ब्रह्म §3§ अन्तर्यामी ब्रह्म । श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम ब्रह्म हैं । यह ब्रह्म का अधिदैविक स्वरूप है । अक्षर ब्रह्म आध्यात्मिक स्वरूप है । यह विशुद्ध ज्ञानलभ्य है । अन्तर्यामी रूप में वह सबका नियमन करता है । ब्रह्म रमण करने की इच्छा से अपने आनन्दादि गुणों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण करता है । आविर्भूत जीव अणुरूप एवं नित्य है । मोक्ष में आनन्दांश के आविर्भूत होने पर जीव विभु स्वरूप हो जाता है । वल्लभ के सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंशांशिभाव का है अग्निस्फुलिङवत् । अविद्या के प्रभाव से जीव इस ब्रह्मात्मक जगत व ब्रह्म के द्वैत का दर्शन करने लगता है । यही जीव का बन्धन है । इस अविद्या से मुक्ति भी ईश्वरेच्छा से ही होती है । मोक्ष के लिए वल्लभ भी भक्ति को ही साधन मानते हैं ।

लेकिन इन्होंने कर्म व ज्ञान के अवकाश के लिए प्रवाह, मर्यादा व पुष्टि तीन मार्गों को स्वीकार किया है। कर्म, ज्ञान व भक्ति क्रमशः इनके प्राणतत्व हैं। प्रवाह का अर्थ है सर्गपरंपरा की अविच्छिन्नता। मर्यादा का अर्थ नियमों को अनतिक्रमण है। पुष्टि का अर्थ भगवदनुग्रह है। यह भक्ति अनुग्रह जन्य होती है। भगवदनुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति भी द्विविध है। (1) मर्यादाभक्ति (2) पुष्टिभक्ति। जिस जीव का वरण भगवान् मर्यादा भक्ति मार्ग में करते हैं उसे मर्यादा भक्ति प्राप्त होती है। जिसका वरण पुष्टिमार्ग में करते हैं उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है। मर्यादामार्ग मुख्य रूप से साधन मार्ग है। अर्चन वन्दन आदि नवलक्षणों वाली विहिता या साधनभक्ति इसी मर्यादामार्गीय भक्ति का अंग है। पुष्टिमार्ग में तो विहित साधनों के अभाव में भी स्वरूप बल से ही भगवान भक्तों को अपनी प्राप्ति करा देते हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति ही अविहिता या रागानुगा भक्ति कहलाती है। इस सम्प्रदाय में प्रायः दो प्रकार के संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं (1) शरणमन्त्रोपदेश (2) आत्मनिवेदन साध्यभक्ति श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेमरूपा है। इसे ही वल्लभ ने मानसी सेवा कहा है। सर्वात्मरूप होने के कारण श्रीकृष्ण ही जीव के परम प्रेमास्पद हैं। श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति नित्य-निरतिशय आनन्द से युक्त होने के कारण स्वयं पुरूषार्थरूपा है। जीव का सर्वोच्च साध्य है। प्रेम, आसक्ति और व्यसन के क्रम से यह भक्ति दृढ़ होती है। यह व्यसन भावापन्न भक्ति ही निर्गुण भक्ति योग है। इस निर्गुण भक्ति योग की दो विशेषताएँ हैं (1) यह अहैतुकी (2) आत्यन्तिकी है। फलकांक्षा रहित होने के कारण यह अहैतुकी है तथा अव्यवहिता का तात्पर्य है नैरन्तर्ययुक्त। प्राकृत सत्वादि गुणों से रहित होने के कारण यह निर्गुण कहलाती है। प्रेम आसक्ति व व्यसन के पश्चात् सर्वात्मभाव की स्थिति आती है। भगवत्स्वरूप में विलम्ब न सह सकने के कारण अत्यन्त आर्तभाव से सर्वत्र भगवत्स्वरूप की ही अनुभूति सर्वात्मभाव है। इस सर्वात्मभाव का मुक्ति में भी पर्यावसान नहीं होता। भगवान ऐसे भक्त के सदा वशवर्ती रहते हैं।

रहते हैं ।

इस प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी तक के चारों वैष्णव आचार्यों की भक्ति-विषयक संधारणा के सम्यक् विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैष्णव आचार्यों ने जन-मानस के मनोविज्ञान के अनुकूल भक्ति का स्वरूप स्थापित करके हमारे भारतीय धर्म व दर्शन की स्थिति सुदृढ़ की है । ईश्वर की सगुणता व उसके साकार रूप की स्थापना करके शंकर के निर्गुण ब्रह्म के दुर्गम्य स्वरूप को व्यक्ति के लिए स्पष्ट रूप में प्रकाशित किया । नवधा भक्ति के लिए ईश्वर का साकार स्वरूप अनिवार्य है । नवधा भक्ति ही भक्ति की प्रथम सीढ़ी है । अतः इसके अनुष्ठान की अपेक्षा अनिवार्य है । साध्य भक्ति तो भक्ति की परिपक्वावस्था है । यह अनायास ही सुलभ नहीं है । हमारे सभी आचार्य भक्ति के साथ-साथ कर्म व ज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं क्योंकि मर्यादित कर्म से आत्मा का परिष्कार होता है तथा संस्कृत आत्मा में ही ईश्वर के दिव्यता व महानता का ज्ञान उद्भूत होता है । ज्ञान भक्ति में उसी प्रकार सहकारी है जिस प्रकार ज्ञान के लिए शुभ कर्मों का अनुष्ठान । हमारे आचार्यों में मध्व तो ज्ञान व भक्ति के मिले जुले रूप की ही स्थापना करते हैं । आचार्य रामानुज भी ज्ञानमिश्रा भक्ति को ही श्रेष्ठ समझते हैं । यद्यपि इन्होंने भक्ति को जनसामान्य के लिए सुलभ बनाने के लिए पृथक रूप से प्रपत्ति मार्ग की भी व्यवस्था की । इसमें ज्ञान की कोई भूमिका नहीं है । एकमात्र पूर्णशरणागति ही मोक्षफलदात्री है । आचार्य निम्बार्क ने भी ज्ञान को अधिक महत्त्व भले ही न दिया हो तथापि ये ज्ञान की अपेक्षा नहीं कर सके । वल्लभ ने तो भक्ति के साथ-साथ कर्म व ज्ञान की व्यवस्था के लिए पृथक रूप से प्रवाह व मर्यादा मार्ग की व्यवस्था की है । कहने का तात्पर्य

यह है कि वैष्णव परंपरा के आचार्य होने के कारण हमारे आचार्यों ने भक्ति को ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ व अन्तिम उपाय माना है । इतना ही नहीं वल्लभ तथा मध्व ने तो स्पष्ट रूप में साध्य भक्ति को साधन व साध्य दोनों ही रूप में वर्णित किया है । इनके अनुसार साध्य भक्ति स्वयं लक्ष्यरूपा है । हमारे अनेक ऋषियों ने समस्त लौकिक व पारलौकिक सभी फलों का त्याग कर एकमात्र साध्य भक्ति की ही कामना की है । चूँकि भक्ति में कर्म व ज्ञान का समावेश स्वयमेव हो जाता है इसलिए भक्ति को एकमात्र साधन मानने में कर्म व ज्ञान को भी उचित स्थान मिलता है । जबकि केवल कर्म की महत्ता स्वीकार करने पर भक्ति व ज्ञान उपेक्षित रह जाते हैं तथा ज्ञान की मुक्ति का एकमात्र साधन स्वीकार करने पर कर्म व भक्ति उपेक्षित रह जाते है । जबकि भक्ति में कर्म व ज्ञान का अन्तर्भाव संभव है । अतएव हमारे आचार्यों ने भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना है । इस प्रकार भक्ति की महत्ता प्रतिष्ठापित करके इन्होंने हमारे समाज को एक सही दिशा दी । तथा भक्ति की विस्तृत व्याख्या के द्वारा इन्होंने भक्ति को अपने स्थान पर सुदृढ़ किया है । यही इन आचार्यों का हमारे भारतीय धर्म व दर्शन परंपरा में सबसे बड़ा योगदान है ।

सहायक ग्रन्थ की सूची

आधुनिक दर्शन की भूमिका : संगमलाल पाण्डेय

अनुग्रह मार्ग : देवर्षि रमानाथ शास्त्री

तत्वार्थ दीप निबन्ध : वल्लभाचार्य अनुवादक श्री केदारनाथ मिश्र

दर्शन शास्त्र का इतिहास : देवराज

नारद भक्ति सूत्र : स्वामी वेदान्तानन्द

निम्बार्क सम्प्रदाय और उनके कृष्ण भक्त कवि : नारायण दत्त शर्मा

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य : सत्यानन्द सरस्वती

भारतीय दर्शन की रूपरेखा : वात्स्यायन

भारतीय दर्शन की रूपरेखा : हिरियन्ना

भारतीय दर्शन की कहानी : संगमलाल पाण्डेय

भक्तमाल नाभादास : सीतारामशरण भगवानप्रसाद

भक्तमाल रामरसिकावली : महाराज रघुराज सिंह

भक्ति का विकास : डॉ० मुन्शीराम शर्मा

भारतीय दर्शन (भाग 2) : डॉ० राधाकृष्णन् अनु० नन्दकिशोर गोभिल

भक्ति हेतु निर्णय : श्री विट्ठलनाथ अनु० श्री केदारनाथ मिश्र

भागवत सम्प्रदाय : बलदेव उपाध्याय

भक्ति साहित्य में मधुरोपासना : परशुराम चतुर्वेदी

मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन और अष्टछाप : दीनदयाल गुप्त

मध्यकालीन धर्म साधना	:	हजारीप्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सामाजिक विवेचन	:	डॉ0 सुमन शर्मा
रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतिक भक्ति दर्शन	:	सरनाम सिंह
वेदान्त दर्शन	:	स्वामी ललित कृष्ण गोस्वामी
वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त	:	आचार्य बलदेव उपाध्याय
वैष्णव, शैव व अन्य धार्मिक मत	:	रामकृष्णगोपाल भण्डारकर
वेदान्त कामधेनु	:	निम्बार्क (अनु0ललितकृष्ण गोस्वामी)
वैष्णव धर्म का विकास एवं विस्तार	:	कृष्णदत्त भारद्वाज (कल्याण)
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड	:	श्री गिरिधर जी महाराज
श्री भक्ति रसामृत सिन्धु बिन्दु	:	महामहोपाध्याय श्री विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद
श्री मध्व सिद्धान्त कणिका	:	श्री वनमालिदास शास्त्री
श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त	:	भट्ट श्री ब्रजनाथ शर्मा
श्रीभाष्य (खण्ड 1)	:	रामानुज (अनु0 ललितकृष्ण गोस्वामी)
श्रीभाष्य (खण्ड 2)		
श्रीमाध्व वेदान्तपूर्णप्रज्ञभाष्य	:	अनुवादक ललितकृष्ण गोस्वामी
श्री निम्बार्क वेदान्त	:	
श्री वल्लभ वेदान्त अणुभाष्य	:	

श्रीमद्वल्लभाचार्य उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग : लक्ष्मीशंकर निगम एवं शोभा निगम

सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह : शंकराचार्य(अनु०स्वामी सत्यानन्द सरस्वती)

सर्वदर्शन संग्रह: : मध्वाचार्य

हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति : श्याम सुन्दर शुक्ल

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य, काव्यादर्श तथा काव्य सिंह : योगेन्द्र प्रताप सिंह

हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना : श्यामनारायण पाण्डेय

Aspects of early Vishunuism : Jan gonda

Narada Bhakti Sutras : Swami Tyagisananda

Bhakti in Shankars Philosophy : Dr. Adya Prasad Mishra

Philosophy of Sri Madhavacharya : B.N.K. Sharma

The Philosophy of Nimbarka : M.M.Agrawala

Vishnuism in medival India : S.K.Day

Vishnuism : Subira Jaiswal